आर्यसमाज

अतीत की उपलब्धियाँ तथा भविष्य के प्रश्न

(लेखराम साहित्य पुरस्कार के लिये आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब द्वारा पुरस्कृत)

लेखक

डॉ. भवानीलाल भारतीय

एम.ए., पी-एच.डी., साहित्यरत्न, सिद्धान्तवाचस्पति

1978

प्रकाशक

आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब

गुरुदत्त भवन, जालन्धर

मूल्य : दस रुपये

जुलाई १९७८ ई०
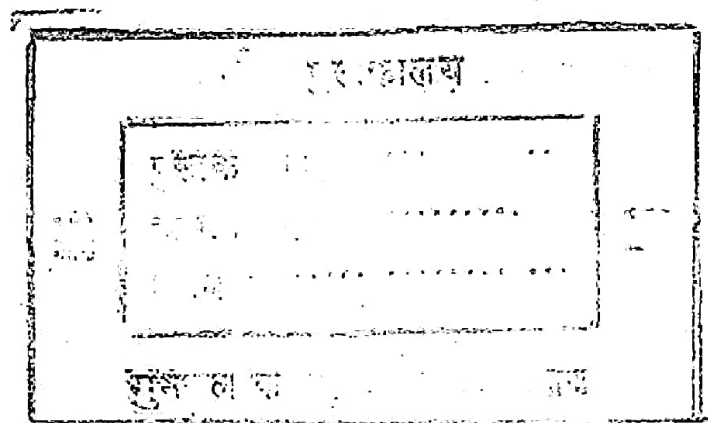
मुद्रक : गुरुकुल कांगड़ी प्रिन्टिग प्रेस, हरिद्वार ।

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक आर्य-प्रतिनिधि-सभा पंजाब की प्रेरणा से लिखी गई है। आर्य समाज ने अपने जीवन की एक शताब्दी पूरी की। इस दीर्घ अवधि में उसने सामान्यतया मानव जाति और विशेषतया भारत के जन-जीवन, विचारों और विश्वासों को जिस प्रकार प्रभावित और परिवर्तित किया, यह इतिहास की वस्तु बन चुका है। आर्य समाज की प्रगति और उसकी कार्य पद्धति का अध्ययन करते समय यदा-कदा यह क्षीण आभास होने लगता है कि कहीं उसमें अवरोध तथा बाधायें तो नहीं आ गई हैं? समय-समय पर अपने कार्य तथा प्रगति की समीक्षा करते रहना लाभदायक होता है। इसी दृष्टि से आलोच्य पुस्तक में आर्य समाज की विभिन्न क्षेत्रों में अर्जित उपलब्धियों और सफलताओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास तो है ही, साथ ही उसके भावी आन्दोलन की परिकल्पना का एक प्रारूप भी प्रस्तुत किया गया है। लेखक यह दावा तो नहीं करता कि इस सीमित स्थान में वह आर्य समाज जैसे विराट् और सर्वग्रासी आन्दोलन की परिपूर्ण वस्तुनिष्ठ विवेचना करने में सफल हुआ तथा उसके कार्य की भावी आयोजना के सम्बन्ध में प्रस्तुत की गई उसकी रूपरेखा अपने आप में सम्पूर्ण और सर्वाङ्गीण है। तथापि उसकी धारणा है कि आर्य समाज के कार्य और प्रवृत्तियों से संबंधित सभी पहलुओं का स्पर्श करने का उसने प्रयास अवश्य किया है। इसी प्रकार धर्म, समाज, राजनीति, अर्थ और संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ करणीय है, उसे भी योजनाबद्ध रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

यदि इस विवेचन के द्वारा आर्य समाज का एक भव्य और गौरवास्पद रूप पाठकों के सामने उभर सका तथा इस प्रगतिशील और जीवन्त आन्दोलन के भावी कार्यक्रम की कोई सुनिश्चित योजना उनके समक्ष आकार ग्रहण कर सकी, तो लेखक अपने प्रयास को सफल समझेगा।

भवानीलाल भारतीय

एम०ए०, पी०एच-डी०

दयानन्द आश्रम, अजमेर

वैशाख कृ० ११, वि०२०३२

विषय-सूची

अध्याय १

भारतीय पुनर्जागरण के आन्दोलन

पूर्व पीठिका

शताब्दियों की राजनीतिक पराधीनता ने भारतीय समाज को विकारग्रस्त बना दिया था। राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक उत्पीड़न तथा आत्मबोध के अभाव ने भारतवासियों में जिस हीन भावना को जागृत किया, उसका सहज ही उन्मूलन होना कठिन था। विदेशी मुस्लिम शासन से उत्पन्न पराधीनता के भाव ने हिन्दू-समाज को विकार ग्रस्त ही नहीं बनाया, हिन्दुओं के धार्मिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मानदण्डों को भी अपूरणीय क्षति पहुँचाई। सहस्राब्दियों पूर्व के वैदिक, औपनिषदिक तथा रामायण-महाभारत कालीन समाज में लोगों की इहलोक और परलोक के प्रति जो स्वस्थ दृष्टि थी, वह तो अतीत की वस्तु हो ही गई, मौर्य और गुप्त युगीन भौतिक समृद्धि तथा वैभव, कलात्मक अभिरुचि, साहित्य, संगीत, काव्य और स्थापत्य के क्षेत्र में महती उपलब्धियाँ तथा बृहत्तर भारत के समुद्रपारीय देशों पर भारत की सांस्कृतिक विजय के तथ्य भी अब केवल इतिहास में लिखने योग्य ही रह गये। धर्म, समाज और सामान्य जन जीवन के क्षेत्र में पराधीनता की काली घटाओं ने जिन आपत्ति, विपत्ति और अभिशापों की उपलवृष्टि की, उससे जनता के दुःख और कष्ट ही बढ़े। धर्म के नाम पर थोथा कर्मकाण्ड, नैतिकता के नाम पर मिथ्या एवं मूढ़ विश्वासों का प्रचलन तथा सुसंगत सामाजिक विधान के स्थान पर कठोर वर्जनायें और नियन्त्रण इस युग की कतिपय विकृतियाँ हैं।

लोगों का चिन्तन इतना विकार ग्रस्त तथा दूषित हो गया था कि वैचारिक उदारता के स्थान पर कट्टर संकीर्णता तथा अनुदार भावों का ही प्रसार हुआ। फलतः समाज में बाल विवाह का प्रचलन, स्त्रियों की शिक्षा पर रोक तथा उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण, विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध, बहु विवाह की स्वीकृति, पर्दाप्रथा, जन्म के आधार पर स्पृश्यास्पृश्य की कल्पना तथा नारी एवं दलित वर्ग के प्रति असीम अत्याचारों का विधान स्वीकृत हुआ। इन सामाजिक कुरीतियों ने हिन्दू समाज की एकता को विशृंखल कर दिया, जिसका एक अवश्यसंभावी परिणाम था सहस्रों जातियों और उपजातियों की संकीर्ण कारा में बन्ध कर समाज का छिन्न-भिन्न हो जाना।

इसी समय भारतवासियों का पश्चिमी जातियों से सम्पर्क हुआ। मध्यकाल के संकीर्ण एवं जड़ता ग्रस्त वातावरण में रहने वाले भारतवासी सम्भवतः यह

भूल चुके थे कि पाताल देश (अमेरिका) की एक राजकन्या उलोपी के साथ पाण्डव राजकुमार अर्जुन का किसी समय विवाह हुआ था[1] तथा हरिवर्ष (यूरोप) देशीय लोगों के साथ भी उनका सम्पर्क रह चुका है, अतः जब १४९८ ई० में एक पुर्तगाली नाविक वास्कोडिगामा ने अफ्रीका का चक्कर लगा कर दक्षिण के समुद्र तट पर अपना जहाजी बेड़ा खड़ा किया तो समुद्र यात्रा को अस्वीकार करने वाले[2] भारतवासियों का चकित और दिग्भ्रमित हो जाना स्वभाविक ही था। कालान्तर में अन्यान्य विदेशी जातियां भी भारत के अपार धन धान्य और सम्पदा के प्रति आकर्षण अनुभव करती हुई इस देश में आती रहीं। सन् १६०० ई० में इंगलैण्ड में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना हुई। ब्रिटिश सम्राट जैम्स प्रथम ने अपने वाणिज्य दूत सरटॉमसरो को भारत भेजा। सर टॉमस ने अजमेर में मुगल सम्राट जहांगीर से भेंट कर अपनी जाति के लिये व्यावसायिक सुविधाओं की याचना की। मुगल बादशाह ने अंग्रेजों को व्यापार करने के लिए कोठियां स्थापित करने की तो आज्ञा दी ही, साथ ही अपनी बस्तियों में अपने कानून के अनुसार शासन करने का भी अधिकार प्रदान किया। इस प्रकार भारत में विदेशी शासन का बीज वपन हुआ।

प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता तथा वाणिज्य संबन्धी सुविधाओं को देख कर अन्यान्य यूरोपीय जातियों ने भी भारत के प्रति अदम्य आकर्षण का अनुभव किया। अंग्रेजों की भांति, डच, पुर्तगाली तथा फ्रांसीसी लोगों ने भी इस देश

---

१ स्वामी दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में इस ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख करते हुए लिखा है आर्यावर्त की सूध पर नीचे रहने वालों का नाम नाग और उस देश का नाम पाताल इसलिए कहते हैं कि वह देश आर्यावर्तीय मनुष्यों के पाद अर्थात् पग के तले हैं और उनके नाग-वंशी अर्थात् नाग नाम वाले पुरुष के वंश के राजा होते थे उसी की उलोपी राजकन्या से अर्जुन का विवाह हुआ था—अष्टम समुल्लास।

२ मध्यकालीन युग में समुद्रयात्रा को कलिवर्ज्यों में गिना गया था—

समुद्रयातुः स्वीकारः कमण्डलु विधारणम्।
देवराच्च सुतोत्पत्ति मर्धुपर्के च गोवधः॥
मांसदानं तथा श्रद्धेवानप्रस्थाऽऽमस्तथा।
नरमेधाश्वमेधकौ गोमेधश्च तथा मखः॥
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः।
निर्णय सिन्धु में वृहन्नारदीय पुराण का उद्धरण॥

में अपने उपनिवेश स्थापित किये। व्यवसाय की प्रतिस्पर्धा धीरे-धीरे राजनैतिक प्रभुता प्राप्त करने के लिये संघर्ष का रूप धारण करने लगी और भारत की शस्य श्यामला भूमि पर अपना एकान्त स्वत्व स्थापित करने के क्षुद्र लक्ष्य से प्रलुब्ध इन विदेशी जातियों ने भारत भूमि को युद्ध का प्रांगण बना दिया। कूटनीति और रणनीति में दक्ष अंग्रेजों को ही इस संघर्ष में सफलता मिली। उन्होंने हालैण्डवासियों को तो इस देश से चलता किया ही, फ्रांसीसी और पुर्तगाली भी उनके समक्ष पूर्णतया हीन सत्व और हतप्रभ हो कर कुछ उपनिवेशों तक ही अपने प्रभुत्व को सीमित रख सके।

जब भारत के मुगल शासकों ने इस प्रकार गौरांग वणिकों को साम्राज्य प्रसार की नीति पर चलते और सफल होते देखा तो उनका स्वप्न भंग हुआ। साथ ही राजपूत, मराठा एवं सिक्ख आदि एतद्देशीय शासक जातियों के मुखियाओं ने भी अनुभव किया कि मुगलिया सल्तनत का निरन्तर दुर्बल होते जाना चाहे उनके लिए कितना ही तुष्टिदायक क्यों न हो किन्तु विदेशी सत्ता के प्रभुत्व की अभिवृद्धि निश्चय ही खतरे की घण्टी है। परन्तु जब तक देशवासी विदेशी शासन के प्रति सावधान और सचेत होते तब तक सिर पर से बहुत पानी गुजर चुका था। १७५७ ई० में प्लासी के युद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि अंग्रेजों के वृद्धिगत प्रभुत्व को रोकना सहज नहीं है।

सौ वर्ष पश्चात् १८५७ ई० का स्वातन्त्र्य समर भारत की स्वाधीन आत्मा की एक प्रोज्ज्वल अभिव्यक्ति थी। एक बार फिर देशवासी विदेशी दासता की शृंखलाओं को तोड़ कर उन्मुक्त वातावरण में सांस लेने के लिये लालायित दीख पड़े। उन्हें अपनी लक्ष्य प्राप्ति में सफलता भी मिलती, यदि राजपूत और सिक्खों ने अंग्रेजों का साथ नहीं दिया होता। दिल्ली के अन्तिम मुगल सम्राट बहादुर शाह ज़फर को तो स्वतन्त्रता के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने वाले इन पागलों का नेतृत्व करने के दण्ड स्वरूप मातृभूमि से निर्वासित होकर सुदूर ब्रह्मदेश की राजधानी रंगून में जीवन के अवशिष्ट दिन व्यतीत करने पड़े और उस भावुक कवि हृदय सम्राट की अवशिष्ट आकांक्षायें अपूर्ण ही रहीं जब कि उसे अपने प्यारे वतन में दफन होने के लिए दो गज ज़मीन भी नसीब नहीं हुई[1]। साथ ही विद्रोह के अन्यान्य नेता पेशवा नाना साहब और झांसी की रानी, कुंवरसिंह और तात्या टोपे, अजीमुल्ला और अहमदशाह मौलवी को भी भारत के राजनैतिक रंग-मंच से अनायास ही अदृश्य होना

---

१ बहादुर शाह ज़फर रचित सुप्रसिद्ध गजल 'लगता नहीं है दिल मेरा उजड़े दयार में' में यही भाव अभिव्यक्त हुए हैं।

पड़ा। स्वतन्त्रता प्राप्ति की आशाओं को लेकर प्रारम्भ किए गए इस जीवन्त रूपक का अचानक ही पटाक्षेप हो गया।

गदर के समाप्त होते ही शासकों का दमन चक्र निर्बाध गति से चल पड़ा। जनता की निराशा का कोई पार नहीं रहा। सहस्रों भारतवासी फांसी के फन्दों पर झूल गये। विद्रोही सिपाहियों के गांव के गांव जलाकर राख कर दिये गये। निर्दोष व्यक्तियों को भी संदेह मात्र के कारण उत्पीड़न और दमन का शिकार होना पड़ा। परन्तु चतुर अंग्रेज यह भी जानते थे कि निर्ममता-पूर्ण दमन जनता के उत्साह को एक बार भंग भले ही कर दे परन्तु उसे सदा के लिए निःसत्व करना असम्भव है। फलतः इंगलैण्ड की महारानी ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से शासनाधिकार अपने हाथ में लेकर भारतीय शासन-व्यवस्था की बागडोर ब्रिटिश पार्लियामेंट को सौंप दी। १८५८ में प्रचारित महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र में जहां कम्पनी के शासन की समाप्ति की सूचना थी वहां भारतीय प्रजा के धार्मिक अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा तथा लोगों के वैयक्तिक मत विश्वासों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करने का आश्वासन भी दिया गया था। कम्पनी के डाइरेक्टरों को स्थिति से पूर्णतया अनभिज्ञ रखकर गवर्नर जनरलों ने निरंकुश दमन, उत्पीड़न और आर्थिक शोषण का जो दुष्चक्र सतत प्रवहमान कर रखा था वह थोड़ी देर के लिए रुक गया। जनता इस बात से आश्वस्त हुई कि उसके धार्मिक विश्वास अक्षुण्ण रहेंगे। राजनीतिक स्थिरता का भी आभास होने लगा।

अंग्रेजी शिक्षा पद्धति

अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य को सुस्थिर किया ही, उनका विचार भारत-वासियों को भी पाश्चात्य रीति-नीति में दीक्षित कर उन्हें सर्वात्मना विदेशी शासन के रथ को गति देने के लिये एक सुदृढ़ पहिये के रूप में प्रयुक्त करने का भी था। अतः उन्होंने भारत में पश्चिमी शिक्षा पद्धति का प्रचलन किया। किसी भी देश को अधिक समय तक अपने अधिकार में रखना हो तो वहां के लोगों की भाषा और शिक्षा की राष्ट्रीय नीति को परिवर्तित कर देना चाहिए, इसी कूटनीति का प्रयोग अंग्रेज शासकों ने भी किया। भारत में अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली का प्रचलन लॉर्ड मैकॉले ने किया। उसके द्वारा प्रचारित इस शिक्षा पद्धति ने भारत वासियों को हीन सत्व, स्वाभिमान शून्य तथा पाश्चात्य जीवन प्रणाली का अनुगामी बनाया। इस शिक्षा नीति ने भारतीयों के स्वात्मबोध तथा उनकी अस्मिता को सर्वथा नष्ट कर दिया। जिस शिक्षा का उद्देश्य ही एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करना था जो रंग और आकृति में चाहे भारतीय हो, किन्तु आचार विचार, बुद्धि और मन से अंग्रेज होने का दम भरे, उससे अधिक

आशा रखना ही व्यर्थ था[1]। मैकॉले के उस प्रसिद्ध पत्र की बहुशः उद्धृत पंक्तियों का उपर्युक्त भाव यह स्पष्ट सूचित करता है कि इस शिक्षा योजना के क्रियान्वयन में उसका मूल उद्देश्य क्या था ?

लॉर्ड मैकॉले को अपनी शिक्षा विषयक नीति के सफल होने का पूर्ण विश्वास था तभी तो अपने पिता को १८३६ ई० में लिखे गये अपने एक पत्र में उसने यह विश्वास व्यक्त किया था कि " जो भी हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है वह स्वधर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा और विश्वास खो बैठता है। कुछ केवल दिखावे के रूप में उसे मानते हैं तथा कतिपय अन्य ईसाई धर्म अंगीकार कर लेते हैं। यह मेरा सुनिश्चित विश्वास है कि यदि शिक्षा की हमारी यह योजना काम में लाई गई तो अब से तीस वर्ष पश्चात् बंगाल के कुलीन घरानों में कोई मूर्तिपूजक (हिन्दू) नहीं रहेगा "[2]।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ यूरोप में प्रचलित ज्ञान-विज्ञान के नूतन आविष्कारों का भी भारत में प्रचलन किया गया। रेल, तार और डाक की व्यवस्था के कारण जहां भारतवासियों को सामान्य जीवन यापन में कुछ सुविधायें उपलब्ध हुई वहां उन में शासकों की तुलना में हीन भावनायें भी जागृत हुई। यूरोपीय रीति-नीति, शिक्षा-दीक्षा के प्रति उनके मन में आदर और सम्भ्रम का भाव उत्पन्न हुआ तथा वे यह अनुभव करने लगे कि जिस शासन ने आवागमन के साधनों को द्रुततर बनाकर तथा अन्यान्य वैज्ञानिक उपलब्धियों के द्वारा उनके जीवन में सुख सुविधाओं की वृद्धि की है, वह एक दैवी वरदान के तुल्य है।

---

1. " We must do our best to form a class who may be interpreters between us and millions whom we govern, a class of persons Indians in blood and colour, English in taste, in opinion, words and intellect." Vide Macaulay's Minutes of 1835.

2. " No Hindoo who has received an English education, ever remains sincerely attached to his religion. Some continue to profess it as a matter of policy and some embrace Christianity. It is my firm belief that if our plans of education are followed up there will not be a single idolator among the respectable castes in Bengal thirty years hence."

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेजों ने शिक्षा-नीति को विदेशी भावापन्न बनाकर जहां एक ओर भारतीय जनता के जात्याभिमान और अस्मिता को नष्ट करने का उद्योग किया, वहां यूरोप में हुई औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक परिवर्तनों को निर्दिष्ट करने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों का भारत में प्रचार कर यहां के निवासियों में भय, विस्मय और आतंक के भाव उत्पन्न किए। परन्तु हिन्दू समाज की निष्कृति इतने से भी नहीं हुई। भारतीय जन समाज का बहुलांश हिन्दू धर्म का अनुयायी है। इसी हिन्दू धर्म और संस्कृति का मूलोच्छेद करने में उस समय दो अन्य शक्तियां भी लगी हुई थीं। शताब्दियों तक के मुस्लिम शासन ने भारतवासी मुसलमानों के हृदय में यह विचार दृढ़ता से जमा दिया था कि वे शासक वर्ग के लोग हैं और हिन्दुओं को प्रकृति ने उनके द्वारा शासित होने के लिये ही उत्पन्न किया है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात यद्यपि मुसलमानों के इस अहंभाव की समाप्ति हो चुकी थी कि वे अब भी शासन यंत्र के पुर्जे हैं, तथापि ईसाई शासकों को अपनी ही भांति सेमेटिक पैगम्बरी मजहब का अनुयायी होने के कारण, मुसलमान लोग हिन्दुओं की अपेक्षा अपने अधिक निकट समझते थे। मुसलमानों की यह धारणा थी और उनमें सत्यता का अंश भी था कि अंग्रेज हिन्दुओं की तुलना में उन्हें अधिक प्रश्रय देंगे, क्योंकि इस्लाम और ईसाइयत की मत-परम्परा का स्रोत एक ही है। इसी प्रकार अंग्रेज शासक भी अपनी भेद उत्पन्न करने वाली कूटनीति को सफल बनाने की दृष्टि से मुसलमान वर्ग पर अपनी अमेय कृपा-वृष्टि करते थे तथा ऐसा आभास देते थे मानो भारत के भूतपूर्व शासक होने के नाते वे वर्तमान शासकों के अधिक कृपापात्र हैं।

अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त उसी मूक आश्वासन ने मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति विरुद्ध भाव रखने की प्रेरणा दी। अब तक तो वे औरंगजेबी शासनकाल में तथा उससे पहले तलवार के बल पर हिन्दू धर्म को समाप्त करने की चेष्टा में रहे थे परन्तु अब, ऊपरी तौर पर ही सही, न्याय और व्यवस्था के कायम होने तथा अंग्रेजी राज्य की धर्म-निरपेक्ष नीति की घोषणा होने पर उन्होंने हिन्दू धर्म पर किये जाने वाले अपने आक्रमणों का रूप बदल दिया। अब इस्लाम के मुल्ला और मौलवी, फकीर और दर्वेश हिन्दू धर्म की तथाकथित संकीर्णता एवं क्षुद्रता, उस में व्याप्त मूढ़ विश्वासों और कदाचारों का उपहास करने लगे और वाणी तथा लेखनी से हिन्दू धर्म की कटुतम आलोचना उन के सामान्य कार्य व्यापार की वस्तु बन गई[1]। मध्यकालीन युग में यह तथाकथित

---

१ हिन्दू धर्म और मान्यताओं की कटुतम आलोचना करते हुए मुसलमानों की ओर से निम्न ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे — १. इस्माइल मौलवी ने बम्बई

हिन्दू धर्म भी अपनी प्राक्कालीन विशुद्धता को खोकर अनेक मूढ़ विश्वासों, बाह्याडम्बरों तथा मिथ्याचारों का एक ऐसा मिश्रण बन गया था, जिस की आलोचना करना प्रत्येक इतर धर्मावलम्बी के लिये अत्यन्त सहज था।

इसी प्रकार विदेशी शासन के सुदृढ़ हो जाने के पश्चात् ईसाई प्रचारक भी हिन्दू धर्म का मूलोच्छेद करने में तत्पर हो गये। यों तो दक्षिण भारत में ईसाई प्रचारकों का आगमन शताब्दियों पूर्व ही हो गया था। पुनः पुर्तगीज़ शासन के प्रभुत्व सम्पन्न होने पर उन्होंने पुर्तगाली बस्तियों में हिन्दू जनता पर जो अशेष अत्याचार किये उनकी कथा ही पृथक है। अब उत्तर भारत में भी गोरी जाति का साम्राज्य स्थापित हो गया तो ईसाई प्रचारकों की गतिविधियों ने अखिल भारतीय रूप धारण कर लिया। बंगाल इन ईसाई-प्रचार-प्रवृत्तियों का केन्द्र था। श्रीरामपुर में मिशन प्रेस की स्थापना हुई। बाइबिल के भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुये तथा अविश्वासियों को ईसा का विश्वासी बनाने का पुनीत कार्य प्रारम्भ हुआ। बंगाल में जिन ईसाई प्रचारकों ने गॉस्पेल के प्रचार का दायित्व अपने सुपुष्ट कन्धों पर वहन किया उनके नामों का उल्लेख बंगला उपन्यासकार श्री प्रमथनाथ बिशी ने बड़े मनोरंजक ढंग से किया है। अपने

से 'रद्दे हनूद' का प्रकाशन किया। २- अबीदुल्ला ने १२७४ हि० में 'तुहफ़तुल हिन्द' उर्दू में प्रकाशित की। ३-मौलवी सैयद महमूद हुसन ने 'ख़िलअत अल हनूद' फारसी में लिखी जो १२८१ हि० (१९२२ वि०) में छपी। ४- एक अज्ञात मुस्लिम लेखक ने 'मसनवी असूले दीने हिन्द' लिखी जो बरेली से छपी। ५- 'तेगे फक़ीर बरगदने शरीर' नामक एक आपत्तिजनक पुस्तक १८७३ ई० में प्रकाशित हुई। स्वामी दयानन्द के शिष्य तथा आर्य समाज मुरादाबाद के प्रधान मुन्शी इन्द्रमणि ने 'तुहफ़-तुल हिन्द' का उत्तर 'तुहफ़तुल इस्लाम' फारसी में लिखा जो १८७४ हि० में प्रकाशित हुआ। 'ख़िलअत अल हनूद' का उत्तर फारसी में उक्त मुन्शी जी ने 'पादाशे इस्लाम' लिखकर दिया जो १८६६ ई० (१९२५ वि०) में छपा। 'असूले दीने हिन्द' का उत्तर भी मुन्शी जी द्वारा 'असूले दीने अहमद' के रूप में १८६९ में दिया गया। मुसलमानों द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'तेगे फकीर बरगर्दने शरीर' के उत्तर में मुन्शी जी ने तीन पुस्तकें 'हमलये हिन्द', 'समसामे हिन्द' तथा 'सौलते हिन्द' लिखी जो मेरठ से प्रकाशित हुई।

उपन्यास "कैरी साहब का मुन्शी" में उन्होंने एक संस्कृत श्लोक[1] की पैरोडी बनाते हुए लिखा—

हेयर काल्विन पामरश्च कैरी मार्शमेनस्तथा ।
पंच गोरा स्मरेन्नित्यं महापातक नाशनम् ।।

ईसाइयत का यह धक्का इस्लाम की तलवार से भी ज्यादा प्रभावशाली सिद्ध हुआ । ईसाई धर्म प्रचार के दो रूप थे एक प्रणाली के अन्तर्गत वे पादरी आते हैं जो जन-जन में ईसाई विश्वासों के प्रति श्रद्धा जागृत करने के लिये ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में व्यवस्थित रूप से कार्य कर रहे थे । ईसाई धर्म ग्रन्थों का प्रचार और प्रसार करना, लोक भाषाओं का आश्रय लेकर हिन्दू धर्म की आलोचना के व्याख्यान देना, हिन्दू पुराणों, धर्मशास्त्रों तथा देवी देवताओं का उपहास करते हुए उनका विद्रूपात्मक चित्रण करना, यत्र-तत्र पण्डितों से शास्त्रीय वाद-विवाद करना आदि इनकी कार्य प्रणाली के आवश्यक अंग थे ।

परन्तु ईसाई धर्म प्रचार की एक अन्य परोक्ष प्रणाली भी थी, जो हिन्दू धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति के लिये अधिक घातक सिद्ध हुई, वह थी विल्सन, कोलब्रुक वेबर, मैक्समूलर, मैकडानल, मोनियर विलियम्स आदि पाश्चात्य भारत-विद्या-विदों का अध्ययन एवं अनुसंधान । ये पाश्चात्य मनीषी विशुद्ध सारस्वत साधना की दृष्टि से संस्कृत तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन एवं अनुशीलन में प्रवृत्त नहीं हुये थे । इनके द्विविध लक्ष्य थे—भारत में शासक बनकर जाने वाले अंग्रेज आई०सी०एस० अधिकारियों को भारत में सर्वाधिक व्यापक धर्म से परिचित कराना[2] तथा साथ ही हिन्दू शास्त्र एवं रीति-नीतियों को ईसाई धर्म ग्रन्थों तथा पाश्चात्य रीति-नीति की अपेक्षा हीनतर, कुत्सित, मिथ्या एवं निकृष्ट सिद्ध करना[3] । वेवर का समग्र संस्कृत अनुशीलन तथा

---

१ अहिल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा
पंचकन्या स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ।।

2—The first impulse to the study of Sanskrit was given by the practical administrative needs of our Indian Possessions. – A History of Sanskrit Literature–
By A.A. Macdonell P, 2

३—"हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह विशाल पूर्वीय साम्राज्य शासन में राजनीतिक तथा सामाजिक प्रयोगों का स्थान होने के लिये अथवा अपना व्यापार बढ़ाने, अपने को गर्वान्वित अनुभव करने या अपना सम्मान कराने के प्रयोजन के लिये नहीं सौंपा गया है, अपितु इस लिए कि एक विस्तृत

मैक्समूलर का प्रारम्भिक संस्कृत अध्ययन इसी पूर्वग्रह से ओतप्रोत है, यह उनके ग्रन्थों में व्यक्त विचारों से स्पष्ट सिद्ध होता है[1]।

ईसाई प्रचार का निश्चित एवं अपेक्षित परिणाम निकला। अत्यधिक भावुक प्रकृति के बंगाली, ईसाई मृगतृष्णा की ओर दौड़े। माईकल मधुसूदन दत्त, पादरी लाल बिहारी डे, इण्डियन नेशनल कांग्रेस के प्रथम सभापति व्योमेशचन्द्र बनर्जी आदि कुलीन बंगाली जो अपने अपने क्षेत्रों में उच्च कोटि के प्रतिभावान व्यक्ति थे, अपने परम्परागत धर्म को त्याग कर ईसाई बन गये। पं० नीलकण्ठ शास्त्री जैसे संस्कृतज्ञ महाराष्ट्री विद्वान् तथा पं० रमाबाई जैसी विदुषी का भी ईसाई कैम्प में चला जाना एक विडम्बना ही थी। यह बात नहीं कि ईसाई मत को अंगीकार करने वाले सभी लोग वास्तविक सत्यमत के ही जिज्ञासु थे और यह भी नहीं कि धर्म-ज्ञान की क्षुधा को तृप्त करने में ईसाईयत ही सक्षम थी, इनमें से अनेक लोग अपने लौकिक क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए भी स्वपरम्परागत धर्म को तिलांजलि दे बैठे थे।

यह तो हुई बाह्य परिस्थितियों की चर्चा, हिन्दू समाज की आन्तरिक दशा भी कम शोचनीय नहीं थी। जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया है, हिन्दू धर्म अपने प्राकृत शुद्ध स्वरूप को नष्ट कर एक नये ही रूप में परिवर्तित हो चुका था। हम यह नहीं कहते कि कालजन्य परिस्थितियां धर्म, मत एवं विश्वासों को प्रभावित एवं प्रताड़ित नहीं करती। निश्चय ही वैदिक संहिताओं में वर्णित तथा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, स्मृति एवं रामायण, महाभारत आदि इतिहासों में प्रतिपादित तथा इन ग्रन्थों से प्रामाणिकता प्राप्त वैदिक धर्म मध्यकालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के कारण अपने विशुद्ध रूप को खोकर पुराण, तंत्र तथा लोक-भाषाओं के ग्रन्थों पर आश्रित हो चुका था। उसमें आर्येतर तत्वों का भी समावेश हो गया था। बौद्ध, जैन तथा अन्य लोकायत मतों के विश्वासों का भी सम्मिश्रण उसमें हुआ। महायान बौद्धों के अनुकरण पर हिन्दू धर्म में मूर्ति पूजा, अवतार, मठों एवं मंदिरों की स्थापना तथा देवी देवताओं की आडम्बर पूर्ण पूजा-अर्चा

जनसंख्या अनुरंजित, लाभान्वित एव उत्थापित की जा सके और ईसाई धर्म के पुनरुद्धारक प्रभाव का इस देश में सर्वत्र प्रसार किया जा सके"। प्रो० मोनियर विलियम्स लिखित 'भारतीय प्रज्ञा' (Indian Wisdom) प्रथम संस्करण का आमुख पृष्ठ ११.

१-—विस्तृत विचार के लिये द्रष्टव्य पं० भगवद्दत्त रचित-Western Indologists-A Study in Motives.

प्रारम्भ हुई तथा सहजयान,तंत्रयान एवं वज्रयान जैसे परवर्ती तांत्रिक साधना-प्रधान मतों के प्रभाव से उसमें तंत्र-मंत्र पंचमकारोपासना आदि के वीभत्स क्रिया कलाप समाविष्ट हुये ।

कालान्तर में पुष्पित एवं पल्लवित शैव, शाक्त, वैष्णव, निर्गुण-सन्त मत आदि की विभिन्न साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों ने भी भारत के परम्परागत वैदिक धर्म का रूप परिवर्तन करने में पर्याप्त योग दिया । अब इन सब प्रभावों एवं मिश्रणों से धर्म का जो सामासिक रूप बना उसे स्वामी श्रद्धानन्द जी के शब्दों में 'चूं चूं का मुरब्बा' ही कहा जा सकता है, जिसमें परस्पर विरोधी मत-विश्वास, मूढता जन्य कर्मकाण्ड तथा आडम्बर पूर्ण कृत्यों के अतिरिक्त शुद्ध, सात्विक तथा उदात तत्वों का नितान्त अभाव था । यह था उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का हिन्दू धर्म जिसकी परस्पर विरोधिनी आस्थाओं और प्रक्रियाओं को रामकृष्ण- विवेकानन्द टाइप के लोगों ने अनेकता में एकता (Unity among Diversity) जैसे न जाने कितने काव्यात्मक उपमान देकर गौरवान्वित करने की चेष्टा की है ।

हिन्दू समाज भी जीर्ण शीर्ण शोषित एवं जर्जरित होकर मरणासन्न मूर्छा से ग्रस्त हो चुका था । जातिभेद, नारी वर्ग पर अत्याचार, दलित जातिओं की करुणा जनक स्थिति, धर्म के नाम पर शतशः पाखण्ड पूर्ण क्रिया कलाप आदि सभी कारण एकत्र होकर हिन्दू समाज की आसन्न मृत्यु की घोषणा कर रहे थे । बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह. विधवा-विवाह अस्वीकार, दहेज आदि कुप्रथाओं ने समाज में विघटन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था । ब्राह्मण ब्रह्म तेज से रहित, क्षत्रिय क्लीवता एवं दौर्बल्य सेपीड़ित, वैश्य धन हीन एवं क्षुद्र स्वार्थों से पूरित तथा शूद्र सर्वतोभावेन पतित हो चुके थे । साधु संन्यासियों का वर्ग भी जो हिन्दू समाज का अत्यधिक श्रद्धाभाजन एवं विश्वास पात्र था, अज्ञान एवं अहंकार से ग्रस्त होकर भंग गांजा,मदिरा और अफीम जैसे मादक द्रव्यों का सेवन कर अपने पतन की पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था । समाज के अग्रगन्ता ब्राह्मणों और संन्यासियों ने ही जब अपने कर्त्तव्य को विस्मृत कर पापाचरण में प्रवृत होने को अपना लक्ष्य बना लिया तो शेष लोगों की तो कथा ही क्या ? मोहमयी मदिरा को पीकर समग्र हिन्दू समाज अज्ञान की गहन तमिस्रा में अन्धे नाई भटक रहा था । उसके तथाकथित मार्ग-दर्शक एवं नेता भी अंधनैवनीय माना यथान्धाः की उक्ति को सार्थक करते हुए स्वयं तो पतन के गहरे गर्त में गिरते ही थे । अपने अनुयायियों को भी सर्वनाश और अधःपतन के गहन गह्वर में विश्राम लेने की प्रेरणा देते थे ।

यह है उन परिस्थितियों का संक्षिप्त आकलन जिन्हें हमने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है । अज्ञानान्धसार से परिपूरित

इस गहन श्रमा की समाप्ति सन्निकट ही थीं और उससे उत्पन होने वाला था नवोदय का उषा काल जिसका संदेश लेकर अवतीर्ण हुये आर्य समाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द। परन्तु इससे पूर्व कि हम पुनर्जागरण के पुरोधा दयानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज के सिद्धान्तों एवं मन्तव्यों की आलोचना करें, यह आवश्यक होगा कि भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक नव जागरण के प्रथम सूत्र धार राजा राममोहन राय तथा ब्रह्म समाज के सम्बध में कुछ जान कारी प्राप्त करें। साथ ही प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी एवं राम कृष्ण मिशन आदि उन समान धर्मा आन्दोलनों का परिचय प्राप्त करना भी हमारे लिए आवश्यक है जो न्यूनाधिक रूप से आर्य समाज से प्रभावित हुये हैं या जिन्होंने आर्य समाज को प्रभावित किया है।

ब्रह्म समाज- सांस्कृतिक एवं धार्मिक नव जागरण के प्रथम सूत्रधार राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म के प्रचलित वहुदेववादी रूप से खिन्न होकर उप-निषद् प्रतिपादित एकमेवाऽद्वितीय ब्रह्म की उपासना का प्रचार करने हेतु ब्रह्म समाज की स्थापना की। बंगाल के एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न राम मोहनराय ने वाल्यकाल में फारसी और अरवी भाषाओं का अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप वे इस्लाम के एकेश्वरवाद और सूफियों के तसव्वुक मत की और मत और आकृष्ट हुऐ। युग की मांग के अनुसार यद्यपि राम मोहनराय ने अरबी, फारसी पढ़ी थी। परन्तु परिवार की धार्मिक मान्यताओं के पालन हेतु वे संस्कृत अध्ययन में प्रवृत हुऐ। उन्हें संस्कृत अध्ययन की प्रेरणा देने वाली उनकी माता जो एक शाक्त मतानुयायी ब्राह्मण परिवार की कन्या थी। स्वयं राममोहन राय ने अपनी संस्कृत शिक्षा के लिये अपनी माता की प्रेरणा को स्वीकार किया है[1]। राम मोहनराय का शिक्षण काशी में हुआ, वहां रहकर लगभग अढाई वर्षों में उन्होंने उपनिषद्, वेदान्त, स्मृति पुराण तथा तंत्र आदि शास्त्रों का अध्ययन कियां। उपनिषद् वाङ्मय तथा वेदान्त दर्शन के अध्ययन ने उनके हृदय में अंकुरित एकेश्वर वाद के सिद्धान्त को और भी दृढ कर दिया

कालान्तर में उन्होंने २९ अगस्त १८२८ को कलकत्ता नगर के जोड़ासा को मुहल्ले (चितपुर रोड) में ब्रह्म समाज की स्थापना की। वेद और उप-

---

1 "According to the usage of my maternal relations, I devoted myself to the study of sanskrit and the theological works written in it which contains the body of the Hindoo literature, law and religion". Autobiographical Sketch : English works of Raja Ram Mohan Roy P. 232 Panini office, Allahabad.

निषद् प्रतिपादित एकेश्वरवाद तथा ब्रह्मवाद के सिद्धान्त से प्रभावित राजा राम मोहन राय ने हिन्दू धर्म की पूजा प्रणाली को पौत्तलिक उपासना की जड़ता से हटाकर शुद्ध सच्चिदानन्द, प्रज्ञान-घन परमात्मा की मानस पूजा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। धर्म संशोधन के साथ साथ समाज सुधार एवं शिक्षा प्रचार के महत्व पूर्ण कार्यों को भी उन्होंने अपने हाथ में लिया। सती प्रथा को कानून से बन्द कराना उनका चिर ईप्सित स्वप्न था जो तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैन्टिक के सहयोग से पूरा हुआ। राममोहन राय का दृष्टि कोण मानवना वादी था। उनका अध्ययन और अनुभव विशाल था। भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी, लैटिन, ग्रीक तथा हिन्दू आदि पश्चिमी भाषाओं पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। कुरान तथा बाइबिल का उन्होंने विशद अध्ययन किया था। यदि इस्लाम की एकेश्वरवादी धारणा की उन्होंने प्रशंसा की तो ईसाइयत के विषय में भी उनकी कुछ निजी धारणायें थी। वे ईसाई मत के आचार शास्त्र (Ethics) को बहुत उत्तम कोटि का मानते थे तथा भारतवासियों के लिए उसे अनुकरणीय एवं आचरणीय भी समझते थे। जहाँ तक ईसाईत के धार्मिक मतवादों (Religious) (Dogmas) है राजा की मान्यता यह थी कि बाइबिल अपने विशुद्ध रूप में एकेश्वरवाद (Unitarianism) का प्रचार करती है। उसमें ईसा रूपी पुत्र, पिता तथा पवित्र आत्मा की त्रैतवादी (Trinity) विचार धारा का समर्थन कहीं नहीं मिलता।

जहां तक धर्म और समाज के क्षेत्र में सुधार एवं संस्कार का प्रश्न है, राम मोहनराय के अधिकांश प्रत्यन श्लाघनीय हैं, परन्तु भाषा विषयक उनके विचार बड़े उलझनपूर्ण दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि शास्त्रार्थ और धार्मिक चर्चाओं में संस्कृत के उपयोग की आवश्यकता को उन्होने स्वीकार किया था, परन्तु उनके जीवन में ही एक अन्य ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ जिससे सिद्ध हो जाता है कि वे अंग्रेज़ी शिक्षा–प्रणाली को ही प्रोत्साहित करना चाहते थे। बंगाल सरकार का विचार उस समय कलकता में एक संस्कृत कॉलेज की स्थापना करने का था, परन्तु राम मोहनराय की दृष्टि में यह एक अनावश्यक तथा प्रतिगामी कदम था। उन्होंने इस योजना के विरोध में तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड एमहर्स्ट को एक पत्र लिखा[1]। इस पत्र के अनुशीलन से यह स्पष्ट

---

1 A Letter on English Education. Quoted in Raja Ram Mohan RoY. His Life. Writings and Speeches. G.A. Nateson & Co. Madras.

हो जाता है कि राम मोहनराय अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के ही समर्थक थे। उनके इस पत्र में मैकॉले की शिक्षा पद्धति की विजय प्रतिध्वनित होती है।

१८३३ ई० में इंगलैण्ड के ब्रिस्टल नगर में राम मोहनराय के दिवंगत होने पर ब्रह्म समाज का नेतृत्व ऋषिकल्प देवेन्द्रनाथ ठाकुर के हाथों में आया। राम मोहन ने यदि ब्रह्म समाज का बीज वपन किया तो ठाकुरमहाशय ने उसमें ऊष्मा का संचार कर उसे एक पुष्ट पादप का रूप प्रदान किया। देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाज की उपासना पद्धति को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया, समाज के सिद्धान्तों के प्रचार के लिये 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' निकाली[1] तथा ब्रह्म धर्म के प्रचारकों केलिये तत्त्वबोधिनी पाठशाला १८४४ ई० में स्थापित की। ब्रह्म समाज के धर्म विषयक मत को सुनिश्चित करने के लिये देवेन्द्रनाथ ने उपनिषद्, महाभारत तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों को लेकर एक पुस्तक संग्रहीत की जिसे 'ब्राह्म धर्म' का नाम दिया गया। इसी प्रकार अपने अनुयायियों के उपयोग के लिये धार्मिक कर्मकाण्डों का भी निर्धारण किया गया जिसे 'अनुष्ठान पद्धति' के नाम से उन्होंने स्वयं संकलित किया था। ब्राह्म समाज के एकेश्वरवाद के सिद्धान्त में श्रद्धा. भक्ति और आस्था की त्रिवेणी का सामवेश कराना देवेन्द्रनाथ का ही कार्य था।

अब तक वेद की प्रामाणिकता को लेकर ब्रह्म समाज का कोई सुनिश्चित सिद्धान्त नहीं था। यद्यपि राम मोहनराय ने यह स्पष्ट घोषणा की थी कि धार्मिक शास्त्रार्थ और वाद-विवाद की सत्यता मुख्यत; शास्त्रीय प्रमाणों पर ही निर्भर करती है, परन्तु राजा महाशय की मृत्यु के पश्चात् शास्त्र-प्रमाण का क्या रूप हो और वेदों की प्रामाणिकता को किस सीमा तक स्वीकार किया जाय, इन विषयों को लेकर ब्राह्म नेताओं में मत भेद हो गया था। देवेन्द्रनाथ ने इस समस्या के समाधान हेतु अपने चार शिष्यों-आनन्द्र चन्द्र, तारकनाथ, बनेश्वर और रामनाथ को चारों वेदों का अध्ययन करने के लिये काशी भेजा। ऐसा प्रतीत होता है कि इन शिष्यों ने वेदाध्ययन के अनन्तर वेदों के संबध में जो धारणा देवेन्द्रनाथ के समक्ष प्रस्तुत की, वह बहुत उत्साहप्रद नहीं थी, अतः ब्राह्मसमाज ने वेदों की प्रामाणिकता के सिद्धान्त से सदा के लिये मुक्ति पाली।

देवेन्द्रनाथ के जीवन काल में ही ब्राह्म समाज का आचार्य पद ब्रह्मानन्द पदवी धारा केशवचन्द्र सेन को मिल गया। इनके संरक्षण में समाज में कुछ

---

१ यह पत्रिका सर्वप्रथम १८४३ ई० में अक्षयकुमार दत्त के सम्पादन में प्रकाशित हुई।

ऐसे क्रान्तिकारी तत्त्व पनपने लगे जिनके कारण संस्था का स्वरूप ही आमूल चूल परिवर्तित हो गया। सामाजिक कुरीतियों के त्याग पर अधिकाधिक बल दिया जाने लगा, परम्परा के पाश क्षीण होने लगे, ईसाई–विश्वास ब्राह्म मत में प्रविष्ट होने लगे और शीघ्र ही यह विदित हो गया कि ब्राह्म समाज एक ऐसे सार्वभौम धर्म के रूप में प्रकट होगा जिसमें वैदिक, बौद्ध, ईसाइयत और इस्लाम सभी धर्मों और विश्वासों के सिद्धान्त सन्निविष्ट हो जायेंगे। केशवचन्द्र के इन तथाकथित प्रगतिशील कार्यों ने ब्राह्म समाज में फूट और विग्रह के बीज बोये। सर्वाधिक विवाद यज्ञोपवीत के प्रश्न से उत्पन्न हुआ। केशव का आग्रह था कि ब्राह्म समाज के उपदेशकों को जाति प्रथा एवं रूढ़िवाद के प्रतीक यज्ञोपवीत को उतार देना चाहिये। एक बार तो प्राचीन मर्यादाओं को निर्दोष मानने वाले देवेन्द्रनाथ भी, केशवचन्द्र के आगे घुटने टेकने के लिये तैयार हो गये परन्तु शीघ्र ही उनके अनुयायियों ने केशवचन्द्र के समक्ष आत्म समर्पण करने से इन्कार कर दिया। फलतः पुराने विचारों के ब्राह्मों ने अपने संगठन को 'आदि ब्राह्म समाज' का नाम दिया और केशव के तथा कथित प्रगतिशील अनुयायी 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज' के नाम पर संगठित हुए। परन्तु ब्राह्म समाज का विभाजन यहीं तक सीमित नहीं रहा। कालान्तर में जब केशव ने अपनी अल्प वयस्क पुत्री का विवाह कूचविहार के राजकुमार से करना निश्चित किया और इस विवाह में भी ब्राह्म अनुष्ठान–पद्धति का प्रयोग प्रयोग न किया जाकर परम्परागत मूर्तिपूजा प्रधान वैवाहिक संस्कार ही सम्पन्न हुआ तो केशव के रहे सहे अनुयायी भी उनसे पृथक् हो गये। केशव ने अपनी पुत्री के अल्पावस्था में विवाह का भी येन–केन–प्रकारेण समर्थन किया[1] और अपने आपको दैवी आदेश प्राप्त करने वाले सिद्ध पुरुष के रूप में प्रख्यापित किया[2]। परिणाम यह हुआ कि उनसे मतभेद रखने वाले ब्राह्मों ने

---

१ "यह कार्य करते हुए मुझे विश्वास है कि इसमें मैंने कोई पाप नहीं किया है जो काम मैंने परमात्मा की आज्ञा से किया है, निस्संदेह उसके लिये मैं दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यदि किसी पर दोष लगाया जा सकता है तो परमात्मा पर ही लगाया जा सकता है, क्योंकि उसी ने मुझे ऐसा कार्य करने के लिये कहा और बाध्य किया।"

२ "यदि मैं प्रत्यादिष्ट महापुरुष नहीं हूं तो मैं एक विचित्र मनुष्य तो हूं ही। मैं साधारण आदमियों की तरह नहीं हूं और यह बात मैं जान बूझकर कहता हूं।...मेरे कार्य का विरोध करना मानो सर्व शक्तिमान् परमात्मा के विधान का विरोध करना है।"

'साधारण ब्राह्म समाज' के नाम से अपना पृथक् संगठन बना लिया और केशवचन्द्र ने नव विधान समाज' (New Dispensation)की स्थापना की।

केशवचन्द्र की शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य प्रणाली पर हुई थी। उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि पूर्णतया पश्चिमी चिन्तन से आक्रान्त थी। ईसाइयत के प्रति उनमे अपार उत्साह था। वे ईसा को ऐशिया का एक महापुरुष ही नहीं अपितु मानव जाति के त्राता के रूप में स्वीकार करते थे तथा अपने अनुयायियों को ईसाई मत की धार्मिक एवं अचार मूलक शिक्षाओं को खुले रूप में अंगीकार कर लेने की प्रेरणा देते थे। कहना नहीं होगा कि केशवचन्द्र की इन्हीं परकीयानुकरण की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने के कारण ही परवर्ती ब्राह्म समाज का विशाल हिन्दू समाज से सर्वथा सबंध विच्छेद सा हो गया। ब्राह्म लोग अपने आपको हिन्दू धर्म की मान्यताओं और विश्वासों की सामान्य धारा से पृथक् करने लगे और एक संकीर्ण सम्प्रदाय के रूप में ही उनका आकुंचन हो गया।

ब्राह्म समाज के सिद्धान्तों के अनुरूप ही महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। १८६४ ई० में केशवचन्द्र की बम्बई यात्रा ने महाराष्ट्र वासियों में नवीन प्रेरणा तथा जागृति के भाव उत्पन्न किये। बंबई हाईकोर्ट के न्यायाधीश महादेव गोविन्द रानाडे तथा डा० आत्माराम पाण्डुरग के प्रयत्नों ने प्रार्थना समाज के विचार को मूर्त रूप दिया। समाज सुधार की प्रवृतियों का संचालन ही इस समाज का मुख्य उद्देश्य था। कालान्तर में महामति रानाडे ने अखिल भारतीय सामाजिक सम्मेलन (All India Social Conference) के मच से सुधार के कार्य को उत्तेजना और स्फूर्ति प्रदान की, फलतः प्रार्थना समाज की प्रवृतियाँ किंचित शिथिल हो गई।

ऊपर जिन ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज के सुधारवादी आन्दोलनों की चर्चा की गई है. वे आर्य समाज के पूर्ववर्ती है। ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज का स्थापना काल क्रमशः१८२८ और १८६७ई०है जब कि आर्य समाज की स्थापना १८७५ ई० में हुई। इसके पूर्व कि हम आर्य समाज के प्रादुर्भाव उसके मन्तव्यों, सिद्धान्तों और क्रिया क्लाप का विस्तार पूर्वक उल्लेख करें यह आवश्क है। कि थियोसोफिकल सौसाइटी तथा रामकृष्ण मिशन जैसे नवजागरण के परवर्ती आन्दोलनों की भी चर्चा की जाय। थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना तो उसी वर्ष में हुई जिस वर्ष में आर्य समाज स्थापित हुआ था। भारतीय धर्म और अध्यात्म से आकृष्ट होकर अमेरिका निवासी कर्नल एच० एस० आंल्काट तथा रूस की एक महिला मैडम एच० पी० ब्लैवैट्स्की ने उक्त सोसाइटी की स्थापना ७ सितम्बर १८७५ में न्यूयार्क में की। इस

सोसाइटी के अनुयायियों की धारणा है कि स्थूल संसार के अतिरिक्त एक सूक्ष्म संसार भी है, जिसमें परलोक गत आत्मायें निवास करती हैं। किसी उप-युक्त माध्यम के द्वारा इन आत्माओं से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। थियोसोफिकल सोसाइटी सब धर्मों की तात्विक एकता में विश्वास रखती है। उसका सिद्धान्त वाक्य है 'प्रत्येक धर्म में मौलिक एकता' है। ईसाइत की अपेक्षा इस संस्था के धार्मिक मन्तव्य आर्य सिद्धान्तों के ही अधिक अनुकूल है। ईसाई पादरियों और प्रचारकों ने थियोसोफी का उग्र विरोध किया जो सकारण ही था। थियोसोफी ने ईसाईयत के धार्मिक और मतवाद परक अंध विश्वासों का दृढ़ता से विरोध किया।

थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना के साथ ही साथ उसके संस्थापक द्वय का आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द से पत्र व्यवहार हुआ। इसके द्वारा यह निश्चय किया गया कि आर्य समाज की शाखा रूप में सोसाइटी को मान्यता दी जाए तथा दोनों के कार्य और प्रवृतियां एक सी हों। परन्तु शीघ्र ही दोनो संस्थाओं के मौलिक मत भेद प्रकट हो गये और स्वामी दयानन्द ने बंबई में आर्य समाज तथा सोसाइटी के परस्पर संबंध विच्छेद की सार्वजनिक घोषणा एक विशिष्ट विज्ञापन द्वारा कर दी। वस्तुत: थियोसोफिकल सोसाइटी एक विश्व संस्था है जिसकी गति विधियाँ संसार के सारे देशों में फैली हुई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होने के कारण थियोसोफिकल सोसाइटी ने सर्व धर्म समन्वय पर जोर दिया परन्तु उसके विशिष्ट सिद्धान्तों की कोई निश्चित रूप रेखा नहीं बन पाई। भूत प्रेतादि से अनेकानेक विचित्र एवं रहस्यपूर्ण गुह्य विद्याओं का प्रचार करना थियोसोफिस्टों का एक प्रिय कार्य रहा। कालान्तर में श्रीमतीएनी बैसेन्ट का इस संस्था में प्रवेश एक महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई। यद्यपि श्रीमती बैसेन्ट इंगलैण्ड में जन्मी पली और बढ़ी तथापि उनका कार्य क्षेत्र भारत ही रहा। जिस तीव्रगति से उनकी लोकप्रियता बढ़ी उसी तेजी से उनकी ख्याति और प्रसिद्धि में हानि भी हुई। इसका कारण था जे० कृष्ण मूर्ति नामक युवक को ईश्वरावतार के रूप में घोषित करना तथा तद्विषयक मद्रास के न्यायालय में युवक के माता पिता द्वारा श्री मती बैसेन्ट के विरुद्ध प्रस्तुत किया गया अभियोग। वस्तुत: थियोसोफिकल सोसाइटी पढ़े लिखे अभिजात्य वर्ग के लोगों की एक जमात के रूप में ही संकुचित होकर रह गई। जीवन्त जन सम्पर्क के अभाव तथा व्यापक सामाजिक समस्याओं से असपृक्त रहने के कारण सोसाइटी को लोकप्रियता नहीं मिल सकी।

आर्य समाज के परवर्ती आन्दोलनों में रामकृष्ण-मिशन तथा उसके संस्था-पक स्वामी विवेकानन्द के कार्यों का उल्लेख किया जाना आवश्यक है। वस्तुत:

परमहंस रामकृष्ण ने जिस आध्यात्मिक साधना को अनुभव में लाकर अपने भक्तों में स्फूर्त किया वह तर्क एवं युक्तियाद से सर्वथा पृथक् आस्तिकता तथा आध्यात्मिकता का ऐसा अलौकिक भाव था, जिसे अनुभूति का विषय तो बनाया जा सकता है परन्तु जिस पर वाद-विवाद नहीं किया जा सकता। परमहंसदेव यद्यपि लौकिक दृष्टि से शिक्षित नहीं थे किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति की दृष्टि से उनकी आत्म चेतना अपने सर्वोच्च सोपान पर सदा ही प्रतिष्ठित रहती थी। उनके सम्पर्क में आकर नास्तिक नरेन्द्रनाथ दत्त ने ईश्वरानुभूति का साक्षात्कार किया तथा यह अनुभव किया कि उनके गुरु धर्म के साकार विग्रह हैं। विवेकानन्द के रूप में प्रव्रज्या लेकर नरेन्द्र ने दिग्दिगन्त में हिन्दू धर्म और सभ्यता की विजय-वैजयन्ती फहराई इसकी कथा ही पृथक् है। अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित १८९३ ई० के विश्व धर्म परिषद् में उन्होंने हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। यहां अपने बहुचर्चित भाषण में उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि अपनी गई गुजरी अवस्था में भी हिन्दू धर्म संसार के लोगों को बहुत कुछ दे सकता है। यह विडम्बना ही है कि धर्म और अध्यात्म के लीला निकेतन भारत को सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाने ईसाई पादरी जाते हैं, जबकि भारत को आज आवश्यकता भौतिक समृद्धि की है, मत और विश्वास की नहीं।

रामकृष्ण और विवेकानन्द का विश्व-मानवता के लिये जो संदेश है, उसे सहज ही विस्मृत नहीं किया जा सकता। रामकृष्ण-मिशन का कार्य सुधार की अपेक्षा सेवा और पुनर्निर्माण का ही अधिक रहा। देश के प्रोज्ज्वल अतीत और उसके महत्त्वपूर्ण दाय पर वास्तविक गौरव और अभिमान करना विवेकानन्द की शिक्षा की एक अनिवार्य फलश्रुति है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न आर्य समाज से इतर भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आन्दोलनों पर विहंगम दृष्टि से विचार किया है। वस्तुतः ये आन्दोलन एक निश्चित ध्येय को लेकर उत्पन्न हुये थे। समस्याओं के प्रति उनकी विशिष्ट दृष्टि तथा समाधान के लिये उनके पास विशिष्ट कार्यक्रम थे। इन आन्दोलनों के द्वारा नवोदय के एक महत् अनुष्ठान की सिद्धि होनी थी। भारतीय जन-मानस में चेतना और स्फूर्ति भर देना उनका अभीष्ट था। इसी समय पश्चिमी राष्ट्रों से भारत का सम्पर्क एक अहैतुक वरदान के तुल्य सिद्ध हुआ। अपने मध्ययुगीन आचार विचार तथा रूढ़ि प्रेम को छोड़कर भारतवासियों ने यह अनुभव किया कि वे एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा के उत्तराधिकारी तो हैं ही, यदि वे नवीन ज्ञान-विज्ञान तथा वैज्ञानिक विचारधारा को भी आत्मसात करलें तो जहां वे

अपने में एक नवीन युगबोध को जागृत करने में सफल हो सकेंगे वहां उनके द्वारा व्यापक राष्ट्रहित और मानवहित की भी सिद्धि हो सकेगी। इसी दृष्टि को लेकर ब्राह्म समाज और आर्य समाज तथा थियोसोफिकल सोसाइटी आदि नवयुग के पुरोधा आन्दोलनों ने अपनी विचारधाराओं में प्राचीनता एवं नवीनता के सामजस्य पर जोर देते हुए तथा देश की अतीतकालीन गौरवपूर्ण उपलब्धियों का आख्यान करते हुए भी भौतिकवादी पश्चिमी देशों के नवीन विज्ञान और अनुभवों को स्वीकार कर लेने का आग्रह किया ।

अध्याय २

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में जन्म लेकर जिन महा—पुरुषों ने भारतीय धर्म, राष्ट्र, समाज तथा संस्कृति की अपूर्व सेवा की, उनमें आर्य-समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द का नाम अन्यतम है। दयानन्द का जन्म सौराष्ट्र (गुजरात काठियावाड़) के अन्तर्गत मोरवी राज्य के टंकारा ग्राम में १८८१ वि०(१९२५ ई०) में हुआ। उनके पिता करसन जी लाल जी त्रिवेदी सामवेदी सहस्र औदीच्य ब्राह्मण थे। उनके यहां जमीदारी तथा लेन देन का काम होता था। उनका बाल्यकाल का नाम मूलजी अथवा मूलशंकर था। १८८८ वि० में बालक मूलशंकर का यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। तदनन्तर वे अपने पिता के सान्निध्य में रह कर यजुर्वेद संहिता कण्ठस्थ करने लगे। १८९४ में यजुर्वेद कण्ठस्थ कर लेने के पश्चात् उन्होंने अन्य वेदों का पाठ सीखा और संस्कृत व्याकरण के 'शब्द रूपावली' आदि कुछ ग्रन्थों का भी अभ्यास किया।

शिवरात्रि व्रतोत्सव और मूर्ति पूजा के प्रति अश्रद्धा—

मूलशंकर के पिता कट्टर शिवोपासक थे। आयु के १३ वें वर्ष में जब मूलशंकर किशोरावस्था में थे, पिता की प्रेरणा से १८९४ वि० माघ कृष्णा चतुर्दशी को उन्हें शिवरात्री का व्रत करने और रात्रि जागरण करने का प्रसंग उपस्थित हुआ। माता की असहमति होने पर भी पिता के आग्रह वश मूलशंकर को शिवव्रत में दीक्षित होना पड़ा। रात्रि को जब मंदिर में सभी उपासक निद्रागत हो गये तब भी मूलशंकर आंखों पर जल के शीतल छींटे दे देकर अपने को अतन्द्र रखते रहें, ताकि जागरण व्रत का व्यति-क्रम न हो। इसी समय एक विचित्र घटना घटी। एक चूहा शिव-पिण्डी पर चढ़े हुये। अक्षतों तथा अन्य देव निर्माल्य को खाने लगा। इस अकल्पनीय दृश्य को देखकर प्रत्युत्पन्न—मति बालक के मन पर आघात सा लगा। उसने पिता को तुरन्त जगाया और पूछा-कैलास वासी, त्रिशूलधारी, अपरिमित शक्ति युक्त, असुर संहारी महादेव के लिए अर्पित इस प्रसाद को यह अपदार्थ चूहा खा रहा है। क्या यह देव शक्ति की विडम्बना नहीं है ? पिता पुत्र के इस प्रश्न का संतोष जनक समाधान नहीं कर सके। फलत: बालक उसी समय पिता की आज्ञा लेकर एक प्रहरी के साथ घर लौट आया और माता में कुछ मिष्ठान्न लेकर उसने अपना व्रत भंग कर दिया। शिव रात्रि को घटित इस घटना ने बालक मूलशंकर के हृयय में मूर्ति पूजा की

उपादेयता तथा औचित्य के विषय में एक सहज अविश्वास तथा अश्रद्धा का भाव उत्पन्न कर दिया ।

इस घटना के पश्चात् मूल शंकर के परिवार में दो अन्य दुखद घटनायें घटित हुई जिनके कारण उनका मन वैराग्योन्मुख हो गया । जब वे १६ वें थे तब १८६६ वि० में उनकी सहोदरा भगिनी विषूचिका रोग से ग्रस्त हो कर दिवगत हो गई । इस अप्रत्याशित मृत्यु ने मूलशंकर को स्तब्ध और दिङ-मूढ़ सा बना दिया । अब उनके समक्ष मृत्यु मानो साकार रूप धारण कर खड़ी हो गई और वे संसार की नश्वरता तथा क्षण-भंगुरता का सतत चिंतन करने लगे । इसी बीच १८९९ वि० में उनके एक पितृव्य का भी देहान्त हो गया जो उनसे अत्यन्त स्नेह करते थे । अब मूलशंकर का मन संसार के बंधनों से मुक्त होने के लिए छटपटाने लगा, परन्तु उनके माता पिता अपने युवा पुत्र का विवाह कर उसे सांसारिक बंधनों में और भी दृढ़ता से बांधने का विचार करने लगे ।

गृह त्याग और संन्यास दीक्षा--

१९०३ वि० के ज्येष्ठ मास की किसी संध्या को मूल शंकर ने चुपचाप अपने गृह और परिजनों की ममता को त्याग कर जंगल का रास्ता लिया । ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य का नाम धारण कर वे यत्र तत्र विचरण करते रहे । एक बार सिद्धपुर के मेले में उनका पिता से पुन; साक्षात्कार हुआ जो उन्हें घर लौटाने के लिए ढूंढते हुये आ गये थे । ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य पिता के समक्ष तो विनम्र भाव से उनकी आज्ञा पालन करने तथा घर लौट जाने के लिए तैयार हो गये परन्तु रात्रि को पुन: अवसर पाकर भाग खड़े हुए । इसके पश्चात् उनका अपने परिवार के लोगो से कभी साक्षात्कार नहीं हुआ । कालान्तर में यही ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य एक दक्षिणी संन्यासी स्वामी पूर्णानन्द से प्रव्रज्या लेकर दयानन्द सरस्वती के नाम से लोक में विख्यात हुये ।

उत्तराखण्ड का भ्रमण--

संन्यस्त होने के पश्चात् स्वामी दयानन्द ने उत्तर भारत का विस्तृत भ्रमण किया । गुजरात के विभिन्न स्थानों का पर्यटन करते हुये वे आबू पर्वत पर पहुंचे । विभिन्न योगियों से योग की शिक्षा लेते हुये तथा संस्कृत के विभिन्न शास्त्र ग्रन्थों का अभ्यास करते हुये वे उत्तराखण्ड के इन पर्वतों में पहुंच गये । यहां हिमालय के हिम धवल उत्तुग शिखिरों पर विचरण करते हुए स्वामी दयानन्द योगियों का अन्वेषण करते रहे । उन्हें यत्र-तत्र धर्मध्वजी पा-

खण्डी एवं परोपजीवी साधु वेश धारियों के तो दर्शन हुये परन्तु परमतत्व का साक्षात्कार कराने वाला अलौकिक दृष्टि सम्पन्न,आध्यात्मिक साधना युक्त कोई पुरुष नहीं मिला । उत्तराखण्ड का भ्रमण समाप्त कर स्वामी जी गंगा तटवर्ती प्रदेश का भ्रमण करते रहे । तदनन्तर अवधूतावस्था में वे देशाटन करते हुये नर्मदा नदी के स्रोत तक चले गये ।

मथुरा आगमन और दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में शास्त्राभ्यास—

अब उन्हें पता चला कि मे दण्डी विरजानन्द नामक एक अशेष प्रतिभा सम्पन्न सन्यासी निवास करते हैं जो बहुश्रुत एवं बहुपठित हैं । विद्या लाभ की दृष्टि से कार्तिक शुक्ला द्वितीया बुधवार (१४ नवम्बर १८६० ई०) को दयानन्द मथुरा आये और नियमित रूप से दण्डीजी की पाठशाला में अध्ययन करने लगे । लगभग अढ़ाई वर्षों के अध्ययन काल मे उन्होंने अष्टाध्यायी महाभाष्य निरुक्त तथा वेदान्तादि कतिपय शास्त्र पढ़े । यहाँ दण्डी जी से आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों का विवेक हुआ और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि साक्षात्कृत धर्मा, आप्त ज्ञान युक्त ऋषियों द्वारा रचित ग्रन्थों तथा सामान्य अस्मदादि पुरुषों द्वारा निर्मित ग्रन्थों में महत अन्तर होता है । अध्ययन की समाप्ति के पश्चात् जब दयानन्द गुरु दक्षिणा के रूप मे विरजानन्द के समक्ष उनके प्रिय पदार्थ लौंगों का एक थाल भरकर भेंट के रूप मेंअर्पित करने के लिए उपस्थित हुये तो गुरु ने अपने इस प्रिय अन्तेवासी से एक विचित्र,किन्तु महत्वपूर्ण दक्षिणा मांगी । विरजानन्द ने कहा-इस समय देश में अज्ञान और अविद्या जन्य अन्धकार फैला हुआ है, इसे दूर करने तथा शताब्दियों से विलुप्त वैदिक धर्म को पुन: स्थापित करने की आवश्यकता है । उन्होंने दयानन्द से वचन लिया कि वे भविष्य में अपने शेष जीवन को लोक हितार्थ अर्पित कर देंगे तथा संसार के अज्ञानान्धकार को दूर करने तथा आर्ष ज्ञान का प्रचार कर साम्प्रदायिक मतों के जाल से देश वासियों को मुक्त करेंगें । स्वामी दयानन्द ने गुरु की आज्ञा सहर्ष शिरोधार्य की । इसके पश्चात् वे वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का महामंत्र लेकर कर्म क्षेत्र में अवतीर्ण हुये ।

कर्मक्षेत्र में अवतरण——

अब से स्वामी दयानन्द का क्रियाशील धर्म प्रचारक, क्रान्तिकारी समाज सुधारक तथा युगान्तरकारी विचारक का जीवन आरम्भ होता है । पर्याप्त दिनों तक वे अपनी कार्य प्रणाली का चिन्तन करते रहे । अभीष्ट सिद्धि के लिए

कौन से उपाय स्वीकार किये जाय यह उनके लिए मीमांसा का विषय बन गया। आगरा प्रवास काल में जब उनके शिष्य एव भक्त वर्ग ने जिज्ञासा की कि वे अपने गुरुदेव द्वारा दिये गये आदेशों की पूर्ति किस प्रकार करेंगे, तो दयानन्द का यही उत्तर था कि मैं सोच रहा हूं। वस्तुत: वे पथ के अन्वेषी बने हुए थे। प्रारम्भ में उन्होंने आर्ष ग्रन्थों की कथा प्रवचन, जन समाज में सन्ध्योपासना[1], गायत्री जप आदि के प्रचलन के द्वारा धार्मिक जागरण करना चाहा। अत: वे कोपीन मात्र धारण कर तथा केवल संस्कृत बोलने का व्रत लेकर गंगा तटवर्ती प्रान्तों का भ्रमण करते रहे। इस विस्तृत देशाटन ने उनके समक्ष धर्म, समाज और राष्ट्र के बहुविध पतन की एक यथार्थ झांकी प्रस्तुत की। उन्होने अनुभव किया कि पाखण्ड, ढोंग, आडम्बर तथा मिथ्याचारों से देशवासी त्रस्त है। साम्प्रदायिक विभ्राट् ने हिन्दू समाज को सर्वतोमुखी पतन की ओर ढकेल दिया है। विभिन्न मत मतान्तरों की सकीर्ण काराओं में अपने आपको स्वत:ही आबद्ध कर भारतीय जनसमाज मूढ़ता, कूप मण्डूकता तथा गतानुगतिकता के क्रूर पाश में वध गये हैं। फलत: १८६७ के कुम्भ मेले के अवसर पर हरिद्वार में जाकर उन्होंने 'पाखण्ड खण्डिनी–पताका' लहराई और धर्म एवं समाज में व्याप्त कुसंस्कारों और मूढ विश्वासों का तार-स्वर से खण्डन करने लगे। यद्यापि स्वामी जी धीरे धीरे अपने भावी कार्यक्रम को सुनिश्चित करने की ओर अग्रसर हो रहे थे,तथापि इस क्षण उन्हें यह अनुभव हुआ कि सर्व संग परित्यागी परिव्राजक बने बिना उनके कथन की ओर लोगों का ध्यान नहीं जायगा। अतः उन्होंने'सर्व मेघयज्ञ' करने का निश्चय किया वस्त्र, पुस्तक आदि के परिग्रह को भी त्याग कर मात्र कौपीन ही शरीर पर रक्खा।

इसके पश्चात् देश के विभिन्न भागों में धर्म प्रचार करते, कुरीतियों, कुसंस्कारों तथा मिथ्या आचारों के विरुद्ध आवाज उठाते हुये भ्रमण करते रहे। स्थान-स्थान पर सम्प्रदायाभिनिवेशी पण्डितों, हिन्दू धर्मेतर मतों के मुल्ला मौलवियों तथा पादरियों से उनके शास्त्रार्थ हुये। विभिन्न स्थानों पर अपने भाषणों, शंका समाधान एवं विचार विमर्श द्वारा जनता को उद्बोधन देते हुए वे अपने मन्तव्यों का प्रचार करते रहे। स्वामीजी की कार्य-प्रणाली पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वे आरम्भ में संस्कृत आर्षशास्त्रों की पाठ-

---

१ सं० १९२० वि० के आगरा निवास काल में उन्होंने संध्या की ३० सहस्र पुस्तकें म० रूपलालजी की आर्थिक सहायता से प्रकाशित कर वितीर्ण कीं।

शालायें स्थापित कर उनके माध्यम से हिन्दू धर्म में वैचारिक-क्रान्ति लाना चाहते थे। दण्डी विरजानन्द से उन्हें आर्ष-अनार्ष-विवेक का जो मूल मंत्र प्राप्त हुआ था उसका प्रसार आर्ष ज्ञान के प्रचार से ही संभव था। अत: वैदिक शास्त्रों की पाठशालायें स्थापित करना ही उन्हें अभीष्ट जान पड़ा। काशी, फरुर्खाबाद, कासगंज आदि स्थानों में उन्होंने ऐसे विद्यालय स्थापित किये। इन पाठशालाओं की पाठविधि, छात्रों के अध्ययन के नियम, अन्ते-वासियों के प्रचार व्यवहार और अनुशासन के नियम भी उन्होंने स्वत: ही बनायें, परन्तु कालान्तर में उन्हें अनुभव हुआ कि योग्य अध्यापकों की कमी तथा आर्ष ग्रन्थों के पठन में छात्रों की रुचि न होने के कारण इन पाठशालाओं की सफलता संदिग्ध है। स्वामी जी अध्यापकों में जिन गुणों की अपेक्षा रखते थे उस प्रकार के योग्य उपाध्यायों का नितान्त अभाव था। अधिकांश पण्डित अध्यापक स्वामी जी की विचारधारा के प्रतिकूल तथा पौराणिक संस्कारों से आक्रान्त थे। अत: उनका वैदिक पद्धति के अनुसार संचालित होने वाली पाठशालाओं से तालमेल होना कठिन था। परिणाम स्वरूप स्वामी जी को इन पाठशालाओं को बन्द कर देना पड़ा। दयानन्द अनुपयोगी कार्यक्रम को चलाना निरर्थक समझते थे।

१६ नवम्बर १८६९ को भारत की सांस्कृतिक राजधानी काशी में स्वामी दयानन्द का मूर्तिपूजा समर्थक पण्डित समुदाय से शास्त्रार्थ हुआ[1]। स्वामीजी की यह धारणा थी कि यदि शास्त्रीय आधार पर वे मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ, व्रत, तिलक मालादि साम्प्रदायिक धारणाओं का खण्डन करने में सफल हो जायेंगे तो संस्कृत की विद्वन्मण्डली उनके साथ अपनी वैचारिक सहमति प्रदान कर देगी तथा धर्म-सशोधन का उनका काम अधिक सरल हो जायगा। परन्तु काशी के विद्वानों के रुख को देखकर उनकी निराशा की सीमा नहीं रही। काशी नरेश से वृत्ति प्राप्त करने वाले, मदिरों, धर्म क्षेत्रों और धनी व्यक्तियों द्वारा संचालित अन्न क्षेत्रों से प्राप्त आजीविका-भोगी पण्डित मण्डली दयानन्द की क्रान्तदर्शिता से आक्रान्त तो हुई किन्तु उसने यह निश्चय कर लिया कि इस संन्यासी की क्रियाशीलता को यदि निरुत्साहित नहीं किया गया तो पुरा-णानुमोदित परम्परागत धर्म और मान्यतायें रसातल को चली जायेंगी।

---

१ शास्त्रार्थ के विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य—वैदिक यंत्रालय से प्रकाशित तथा इन पंक्तियों के लेखक द्वारा सम्पादित 'काशी शास्त्रार्थ' (२०२६ वि० का संस्करण)

इसके अनन्तर स्वामीजी कलकत्ता गये। यहां उन्हें बंगाल के कतिपय उन शीर्षस्थ सुधारकों का सान्निध्य प्राप्त हुआ जो उस समय धर्म समाज तथा शिक्षा के क्षेत्र मे सुधार एव संस्कार के कार्यों में संलग्न थे। ब्राह्म-समाज के वयोवृद्ध नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें कलकत्ता में आने के लिये आमंत्रित किया था। यहां आने पर ठाकुर महाशय के अतिरिक्त केशवचन्द्र सेन,[1] ईश्वरचन्द्र विद्यासागर,[2] राजनारायण वसु,[3] भूदेव मुखोपाध्याय[4] आदि प्रमुख सुधारकों, शिक्षाविदों एवं बंगीय नवजागरण के अग्रगन्ता पुरुषों से उनकी भेंट हुई। यहां उन्हें ब्राह्म समाज के सिद्धान्तों, मन्तव्यों तथा कार्य प्रणाली का निकट से अध्ययन करने का अवसर मिला। केशवचन्द्र सेन ने उन्हें लोक भाषा में अपने विचार व्यक्त करने की प्रेरणा दी, जिसे स्वामी जी ने उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया। साथ ही वे सेन महाशय के इस व्यावहारिक परामर्श से भी सहमत थे कि विशाल जन-समूह के सम्मुख उपस्थित होते समय वे मात्र कोपीन धारी न रहकर सर्वांगीण वस्त्रों को धारण किया करें। किसी सुव्य-वस्थित संगठन के माध्यम से वे अपने कार्य को अधिकाधिक बल पूर्वक संचालित कर सकते हैं, यह धारणा कलकत्ता प्रवास काल से बन गई, यद्यपि इसे मूर्त स्वरूप प्रदान करने का अवसर उन्हें बंबई में मिला।

फिर भी स्वामी दयानन्द किसी नवीन संस्था को जन्म देने के लिये अधिक उत्सुक नहीं थे। ब्राह्मसमाज के कार्यों और प्रवृत्तियों के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त सदाशयता और सद्भावना थी परन्तु जब उन्होंने यह अनुभव किया कि वेद को प्रामाणिक धर्मग्रन्थ न मानकर कुरान, बाइबिल आदि आर्येतर मतों के मान्य ग्रन्थों को भी उनके समकक्ष रखना, पुनर्जन्म जैसे सर्वधर्म-सम्मत विश्वास के प्रति अनास्था, यज्ञ, उपनयन आदि निर्दोष कर्मकाण्डों का तिरस्कार तथा ईसाइयत के प्रति अनावश्यक आकर्षण ब्राह्म समाज की मान्यता के अभिन्न अंग बन गये हैं, तो उन्हें ब्राह्म समाज से देशोद्धार की आशा नहीं रही[5]। कलकत्ता का प्रवास समाप्त कर दूसरे ही वर्ष वे देश के

---

१ ब्राह्मसमाज के प्रमुख नेता वाग्मि।
२ सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् तथा संस्कृत शिक्षण-संस्थाओं के निरीक्षक।
३ ब्राह्म नेता तथा योगी अरविंद के मातामह।
४ बंगाल के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री।
५ ब्राह्मसमाज के इन मन्तव्यों की विशद आलोचना स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास में की है तथा देशोत्थान के लिये परिवर्तित होते रहते हैं।

अन्य महानगर बंबई पहुंचे । कलकत्ते की ही भांति यहां भी महाराष्ट्र के प्रबुद्ध संस्कारकगण उनके सम्पर्क में आये । श्री महादेव गोविन्द रानाडे, डा० रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर, शंकर पाण्डुरंग, विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, गोपालराव हरिदेशमुख आदि ने स्वामी दयानन्द के रूप में पौरस्त्य ज्ञान एवं विद्या की एक ऐसी प्रज्वलित ज्योति के दर्शन किये जो अपने भीतर आध्यात्मिक साधना से उत्पन्न असीम शक्ति को सन्निविष्ट किये होने पर भी लोक मंगल तथा मानव जाति के व्यापक हित के लिये एक विचित्र तड़प लिये हुये थे ।

आर्य समाज की स्थापना

अपने इन्हीं बंबई निवासी भक्तों एवं अनुयायियों के विनम्र किन्तु भावना-प्रवण आग्रह को स्वीकार कर स्वामीजी ने एक ऐसे संगठन स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की जो न केवल वैदिक धर्म और आर्य संस्कृति के पुनरुत्थान हेतु ही प्रयत्नशील हो अपितु जिसके माध्यम से प्राणिमात्र का हित साधन हो सके । लोक कल्याण के इसी व्यापक आदर्श को दृष्टिपथ में रखकर चैत्र शुक्ला प्रतिपदा सं० १९३२ को आर्य समाज की स्थापना की गई । इसका प्रथम अधिवेशन चैत्र शुक्ला पंचमी को गिरगाँव स्थित डा० माणेकजी पारसी की वाटिका में हुआ । समाज के सिद्धान्तों और विधान को २८ नियमों में निबद्ध किया गया । रानाडे, देशमुख, सेवकलाल कृष्णदास, पानाचन्द आनन्दजी पारेख, गिरधरलाल दयालदास कोठारी आदि गण्यमान्य प्रतिष्ठित पुरुष आर्य समाज के सदस्य एवं सहायक थे । १८७५ से १८७७ तक देश के अन्य भागों में भी स्वामी जी यथापूर्व भ्रमण करते रहे । संभवत: वे इस बीच मौन भाव से आर्य समाज के पुष्पित, पल्लवित एवं वृद्धिगत होने की संभावनाओं का अध्ययन कर रहे थे । धर्म, समाज और राष्ट्र के सर्वांगीण सुधार का जो बिरवा उन्होंने बंबई में रोपा उसे किस प्रदेश का जलवायु रास आयगा और भारतभूमि के किस अनुभाग की उर्वरा भूमि इस पौधे को सशक्त बनाने में समर्थ होगी, यह विचार करते करते स्वामी जी पंजाब की राजधानी लाहौर आये । यद्यपि उन्हें लाहौर में आमन्त्रित करने वाले लोग अधिकांश में ब्राह्म-समाजी थे जिनके साथ स्वामी जी की शत–प्रतिशत वैचारिक सहमति नहीं थी, परन्तु यहाँ के स्वल्प प्रवास काल में ही उन्होंने यह समझ लिया कि पंजाब निवासियों में न तो रूढ़िवादिता के प्रति मोह है और न वे पुरातन विचारों और संस्कारों की शृंखलाओं से ही पूर्णतया जकड़े हुये हैं । हृदय की विशालता, नवीन विचारों को तत्परता के साथ ग्रहण करने की प्रवृत्ति उन्हें पंजाबी स्वभाव की विशेषता प्रतीत हुई । फलत: जब २४ जून १८७७ को लाहौर में आर्य समाज की स्थापना हुई तो उनको यह विश्वास हो गया कि

आर्य समाज की उन्नति एवं प्रगति सुनिश्चित है तथा समयान्तर में आर्य समाज रूपी महावृक्ष की शीतल छाया के नीचे आकर ही विश्व मानवता शान्ति,सौहार्द तथा स्वतंत्रता का अनुभव करेगी। लाहौर में उन्हें रा०ब०मूलराज तथा लाला साईदास जैसे कर्मठ सहयोगी मिले। यहाँ पर ही आर्य समाज के नियमों एवं उद्देश्यों को उसके विधान से पृथक् किया गया तथा संगठन संबधी वैधानिक धाराओं को उपनियमों के रूप में निर्धारित किया गया[१]।

स्वामी जी के जीवन का अविष्ट समय उनकी उदात एवं महनीय शिक्षाओं के सार्वत्रिक प्रसार का काल था। आर्य समाज की शाखायें जिस तीव्र गति के साथ पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश, तथा महाराष्ट्र में फैलने लगी, उससे यह सहज ही विश्वास हो गया कि आर्य समाज के रूप में जस महाप्राण आन्दोलन ने जन्म लिया है उससे मानवता के त्राण को निश्चित आशा बंधी है। इसी दृढ़ आत्म विश्वास को ले कर दयानन्द अपने जीवन के अवशिष्ट समय में वेद भाष्य प्रणयन तथा अन्य ग्रन्थों के लेखन की और प्रवृत हूये। वे सोचते थे कि यदि वैदिक विचारधारा के पुन: प्रसार से देश के विगत गौरव पूर्ण अतीत की कतिपय उपलब्धियों को फिर से प्राप्त किया जा सकता है तो यह और भी आवश्यक है कि वेदों का वास्तविक अभिप्राय भारतीय जन-समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय। फलत: वैदिक साहित्य का पुनवरालोकन तथा वेदार्थ का इस नये संदर्भ में मूल्यांकन आवश्यक था।

देश सुधार की एक अन्य योजना भी उनके सम्मुख आई। उनकी यह धारणा थी कि यद्यपि समस्त भारतवर्ष अंग्रेजी दासता की कारा में बंद है तथापि जो थोड़े से देशी राज्य हैं उनमें स्वदेशी नरेशों को किंचित स्वाधीनता प्राप्य है। यदि ये क्षत्रिय राजा सुधर जायें तो उनकी प्रजा का सुधार और अभ्युत्थान भी संभव है। इसी दृष्टिकोण को लेकर स्वामी जी अपने जीवन के संध्याकाल में उदयपुर, शाहपुरा तथा जोधपुर के राज वरानों के संपर्क में आये तथा राज पुरुषों को दुर्व्यसन त्याग, प्रजा-पालन तथा देशसेवा का उपदेश देने में प्रवृत्त हुए। शतश: लोग उनके अनुयायी बने, सहस्रों ने उनका स्फूर्ति युक्त उपदेश सुना। इस प्रकार आर्य समाज की स्थापना के पश्चात् मात्र ८ वर्ष तक ही क्षेत्र में लगे रहकर स्वामी दयानन्द एक भंयकर षड्यंत्र के शिकार

---

१ अब से आर्यसमाज के नियम और उद्देश्य के नाम से वे प्रसिद्ध १०सिद्धान्त प्रसारित हुये जो इस संस्था का सार्वभौम एवं सार्वजनीन रूप व्यक्त करते हैं। ये अपरिवर्तनीय है, किन्तु संगठन विषयक उपनियम यदा-कदा परिवर्तित होते रहते हैं।

हुये। कार्तिक अमावस्या सं० १९४० वि० को अजमेर में ५९ वर्ष की अवस्था में उन्होंने मृत्युजंय पद प्राप्त किया। स्वामी दयानन्द के रूप में देश ने एक महान् कर्मवीर, वीतराग साधक तथा लोक मंगल के विधाता महापुरुष के दर्शन किये।

उपर्युक्त पंक्तियों में आर्य समाज के प्रवर्तक के जीवन और कार्यों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। हम यह देख चुके हैं कि आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द के जीवन की एक अविस्मरणीय घटना हैं। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान और बुद्धिवाद के आधार पर पुरातन आर्य धर्म और भारतीय संस्कृति की मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए जिन सुधार आन्दोलनों का भारत में जन्म हुआ, उनमें आर्य समाज अन्यतम था। यह हम देख चुके हैं कि आर्य समाज स्थापना से पूर्व बंगाल में ब्राह्म समाज तथा महाराष्ट्र मे प्रार्थना समांज के द्वारा नवयुग के आगमन का दिशा निर्देश किया जा चुका था। देशवासियों को पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के आलोक में अपने सिद्धान्तों और मान्यताओं की पुनरालोचना करने के लिए कहा जा रहा था। स्वामी दयानन्द द्वारा आर्य समाज की स्थापना भी इसी कार्य को करने का महत्वपूर्ण प्रयास था। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ब्राह्म समाज आदि संस्थायें राष्ट्र के नव जागरण के कार्य में पहले से ही रत थी, तब एक नवीन सगठन की क्या आवश्यकता थीं ? क्या स्मामी जी ब्राह्म समाज में ही सम्मिलित होकर उसके कार्य को गति देते हुँए अपने लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकते थे।

आर्य समाज और ब्राह्म समाज-

यहां हमें आर्य समाज और ब्राह्म समाज के मौलिक अन्तर को समझना पड़ेगा। यद्यपि निराकार ब्रह्मोपासना, मूर्तिपूजा की निस्सारता, समाज-सुधार का क्रान्तिकारी दृष्टिकोण तथा ऐसे ही अनेक मन्तव्यों में ब्राह्मसमाज तथा आर्य समाज में कोई पार्थक्य दिखाई नहीं देता, परन्तु दोनों के प्रेरणा-स्रोतों में पर्याप्त अन्तर है। आर्य समाज के संस्थापक जहाँ भारतीय सभ्यता के मूल स्रोत वेद तथा सस्कृत के शास्त्र-समुदाय से अपनी प्रेरणायें ग्रहण करते हैं वहाँ ब्राह्म समाज में राममोहनराय के पश्चात् वेदों और उपनिषदों का स्थान बाइबिल तथा अन्य ईसाई ग्रन्थों को दे दिया गया। प्रेरणा-स्रोतों की यह भिन्नता दोनों संस्थाओं के दृष्टि विन्दुओं की पृथकता पर भी प्रकाश डालती है। आर्य समाज को जहाँ केवल भारतवासियों का ही नहीं अपितु विश्व भर का वैदिकीकरण या आर्यकरण अभीष्ट था, वहाँ ब्राह्म नेता स्वदेश-

वासियों को पश्चिमी आदर्शों और विदेशी मान्यताओं को अधिकाधिक स्वीकार करने की प्रेरणा देकर शासकों और शासितों का भेद (गौण रूप से ही सही) मिटा देने के इच्छुक थे। आर्यसमाज यदि भारतीयो के पश्चिमीकरण का विरोधी था तो ब्राह्मसमाज के परवर्ती नेताओं की यह इच्छा ही बन गई थी कि भारतवासी अपने पुरातन आदर्शों को तिलांजलि देकर सर्वथा आधुनिक(?) बन जायें।

पुनरुत्थानवादी दृष्टि लेकर चलने वाला आर्य समाज अपने समसामयिक आन्दोलनों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील तथा यथार्थवादी सिद्ध हुआ। आर्य-समाज ने वेदों के आधार पर धर्म के सिद्धान्तों की नवीन व्याख्या की और बताया कि धर्म का अभिप्राय केवल रूढ़िगत विचारों का अनुसरण करते हुये कर्मकाण्डों के जटिल क्रिया-जाल का पालन ही नहीं है अपितु धर्म उन उदात्त गुणों की समष्टि का नाम है जो मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान में सहायक होते हैं। आर्य समाज की यह भी मान्यता रही है कि भारत के मूल निवासी आर्यों ने अपने ग्रन्थो में धर्म और नैतिकता के जिन सिद्धान्तों को सूत्रित किया गया था वे सवकाल और सर्वदेशों में उपयोगी हैं। अत:आर्यसमाज वेद और उपनिषद् प्रतिपादित उस नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा का धर्म के नाम पर प्रसार करना चाहता है जिसमें विश्वबंधुत्व तथा मानवता के सूत्र गुम्फित है।

आर्य समाज ने अपने सिद्धान्तों और मन्तव्यों को देश और काल सापेक्ष नहीं बनाया। उसके छठे नियम के अनुसार संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य बताया गया है तथा मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति को सर्वोपरि लक्ष्य ठहराया गया है। मानव के व्यापक हित को अपना ध्येय मानते हुये भी आर्य समाज की शिक्षाओं का राष्ट्रहित से कोई विरोध नहीं है। अपितु पुनर्जागरण आन्दोलनों के अध्येता विद्वानों का यह निश्चित मत है कि आर्य समाज के द्वारा देश का जो व्यापक हित साधन हुआ है उसे ही उसकी लोकप्रियता तथा सफलता का मूल कारण समझा जाना चाहिये। ब्राह्म समाज आदि संस्थायें जहाँ एक स्पष्ट राष्ट्रीय नीति के अभाव में काल कवलित हो गई वहाँ आर्य समाज ने धर्माचरण तथा राष्ट्रसेवा को सदा अभिन्न समझा। देश के राष्ट्रीय जागरण तथा स्वाधीनता प्राप्ति के पुनीत कार्य में आर्य समाज के अनुयायियों का जो उल्लेखनीय योगदान रहा, वह सर्व विदित है।

देश और धर्म के अतिरिक्त समाज सुधार, शिक्षा प्रचार जैसे क्षेत्रों में भी आर्य समाज ने जो कार्य किया,उसका अपना महत्त्व है। बुद्धिवाद की भित्ति

पर तर्क और विज्ञान मूलक धर्म की कल्पना, अपने अनुयायियों में प्रखर राष्ट्रभक्ति जागृत करते हुये उन्हें निर्माणकारी कार्यों में लगाना, छुआछूत का उन्मूलन, नारी शिक्षण और नारी जागरण, कुरीति निवारण, रूढ़ियों और कदाचारों का उन्मूलन तथा अन्य ऐसे ही सुधार मूलक कार्यक्रमों का संचालन आर्य समाज की प्रमुख उपलब्धियाँ हैं। शिक्षा के क्षेत्र में आर्य समाज का कार्य तो शासन द्वारा किये गये एतद् विषयक कार्य के पश्चात् ही आता है। स्कूलों, कालेजों, गुरुकुलों और विद्यालयों के द्वारा शिक्षा का प्रचार तथा इसके साथ साथ इन शिक्षण-संस्थाओं के विद्यार्थियों को धर्म, राष्ट्र तथा संस्कृति की सेवा में लगने की प्रेरणा करना, इन संस्थाओं का मुख्य ध्येय रहा है। आर्य समाज से सैद्धान्तिक मतभेद रखने वाले व्यक्तियों ने भी उसके शिक्षण कार्यों का यथार्थ मूल्यांकन किया तथा देश के लये उसकी उपयोगित: को मुक्त-कण्ठ से स्वीकार किया है।

यहाँ हमने आर्य समाज के कार्य का अत्यन्त संक्षिप्त आकलन करने की चेष्टा की है। वस्तुत: आर्य समाज का सपूर्ण चिन्तन राष्ट्रवाद एवं मानवतावाद के एक सुखद समन्वित प्रयत्न का सूचक है। उसने धर्म का जो स्वरूप लोगों के समक्ष रक्खा वह राष्ट्रार्चन की प्रेरणा देता है तथा मानव मात्र की सेवा को सर्वोपरि मानता है। इसी प्रकार एक सर्वाभौम उपासना सम्प्रदाय होते हुए भी स्वदेश भक्ति के जो सूत्र आर्य समाज ने प्रस्तुत किये हैं वे रूसो, वाल्तेयर अथवा मिल और स्पैन्सर जैसे विदेशी चिन्तकों के विचारों से प्रेरणा न लेकर वेद के 'स्वराज्य सूक्त' तथा पृथिवी सूक्त' से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। आर्य समाज के राजनीतिक आदर्श भी मनु और व्यास, शुक्र और चाणक्य का अनुसरण करते हैं जिनके मनुस्मृति, महाभारत, शुक्र नीति और कौटिलीय अर्थशास्त्र संस्कृत वाङमय के अमर रत्न हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि पुनर्जागरण के आन्दोलनों में आर्य समाज का योगदान अन्यतम है। ब्राह्मसमाज तथा प्रार्थनासमाज को अपने अपने क्षेत्रों में जो सफलता मिली वह एकदेशीय तथा अस्थायी ही थी। बंगाल और महाराष्ट्र में सांस्कृतिक जागरण का कार्य निश्चय ही इन संस्थाओं के द्वारा हुआ परन्तु वह उच्च पठित वर्ग तक ही सीमित रहा। यह वर्ग अग्रेंजी भावधारा में दीक्षित होने के कारण जो कुछ नव्य था, उसका तो स्वागत करने के लिये सदा तत्पर रहता था, परन्तु प्राचीन के प्रति उसकी श्रद्धा विश्रृंखलित सी थी। यही कारण है कि इन संस्थाओं को जनमानस का विश्वासभाजन बनने में न तो सफलता ही मिली और न ये आन्दोलन लोक-व्यापी या जन-प्रिय ही हो सके। थियोसोफिकल सौसाइटी तथा रामकृष्ण-

मिशन की स्थिति भी इनसे अधिक भिन्न नहीं रही। थियोसोफी का प्रचार तो अधिकांश में उस नव शिक्षित समाज में हुआ जिनके लिये धर्म और अध्यात्म अस्था या आचरण की वस्तु न होकर अनुकरण या फैशन के रूप में ही प्रयुक्त किये जाते हैं। रामकृष्ण-मिशन के प्रचारक संन्यासी भी सामान्य अशिक्षित और अर्द्ध शिक्षित भारतीय जनता की ओर उन्मुख होने की अपेक्षा अंग्रेजी पठित वर्ग में ही लोकप्रियता प्राप्त करने के इच्छुक रहे। साथ ही एतद्देशीय लोगों की अपेक्षा वह यूरोप और अमेरिका के उस प्रबुद्ध जिज्ञासु वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये भी यत्नशील रहे जो भौतिक दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण अब अध्यात्म की ओर अग्रसर होना चाहते हैं, वलिक यह कहना अधिक उचित होगा कि जिनके लिये योग और वेदान्त, अध्यात्म और दर्शन आत्मा की अनिवार्य मांग न होकर मात्र बुद्धि-विलास की वस्तु वनकर रह गये हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में जब हम आर्य समाज की अपेक्षाकृत सफलता पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि समसामयिक आन्दोलनों की तुलना में उसकी उपलब्धियाँ अधिक रही हैं। देश की राष्ट्रीय भावधारा को अपनाने तथा स्वदेश वासियों के लुप्त अथवा सुप्त गौरव और आत्म बोध को जागृत करने के कारण ही आर्य समाज इतना सफल हो सका, यह निश्चित है। आर्य समाज ने यद्यपि पश्चिम के कतिपय वांछनीय आदर्शों को अपनाया, परन्तु उन्हें अपने में इतना आत्मसात् कर लिया कि जिससे उनका परकीय स्वरूप पूर्णतः छिप गया। इसी प्रकार प्रेरणा प्राप्त करने के लिये भी आर्य समाज देश की विगत परम्पराओं की ओर ही उन्मुख हुआ। ब्रह्म समाज के प्रवर्तक तथा उनके अनुयायियों ने यहूदी और ईसाई शास्त्रों से प्रेरणा ली, यहाँ तक कि स्वामी विवेकानन्द ने भी पश्चिमी के मनीषी विचारकों के ऋण को उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया परन्तु आर्य समाज ने अपनी प्रेरणा के लिये वेद और उपनिषद् जैसे शास्त्र ग्रन्थों, रामायण, महाभारत जैसे काव्य-इतिहास तथा मनु और याज्ञवल्क्य जैसे नीतिप्रणेताओं की ओर देखा। आर्य समाज की आस्थायें और प्रेरणायें भी यदि अन्य समसामयिक आन्दोलनों की भाँति पश्चिमाभिमुखी रहती अथवा पूर्व एवं पश्चिम की ओर समान रूप से विभक्त रहती तो यह निश्चित है कि भारतीय जन समाज में वह अपनी अभीष्ट लोकप्रियता प्राप्त करने में असमर्थ होता।

अध्याय ३

आर्य समाज के सिद्धान्त और मन्तव्य : उपलब्धियों के संदर्भ में

धार्मिक सिद्धान्त

आर्य समाज मूलतः एक धार्मिक संस्था तथा उपासना सम्प्रदाय है। यहां हम धर्म, उपासना और सम्प्रदाय शब्दों को उनके व्यापक अर्थों में ही ले रहे हैं। भारतीय वाङ्मय में धर्म एक विशिष्ट अर्थगर्भित शब्द है। जो तत्त्व किसी वस्तु को धारण करते हैं, वे उसके धर्म कहलाते हैं, इसलिए मनुष्योचित गुणों को धर्म कहा जा सकता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र[1] की व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द ने वस्तु के स्वभाव को उसका धर्म माना है। वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद के अनुसार 'जिससे मनुष्य के अभ्युदय और निश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है[2]।' संसार के प्रथम विधान निर्माता भगवान मनु ने दश-लक्षणात्मक धर्म का व्याख्यान करते हुए वेद, स्मृति सदाचार तथा अपने आत्मानुकूल आचरण को धर्म का लक्षण कहा है[3]। वे आचार को ही प्रथम धर्म मानते हैं[4]। इस प्रकार धर्म के मौलिक और व्यापक अर्थ करके ही हम आर्य समाज के धार्मिक स्वरूप का परिज्ञान कर सकते हैं। इस धर्म को मानव कर्तव्य का पर्याय कहा जा सकता है और यह स्पष्ट है कि कर्तव्य विचारणा में मात्र पारलौकिक कर्तव्य ही नहीं आते। मानव का स्वयं के प्रति, परिवार, समाज, राष्ट्र यहाँ तक कि सम्पूर्ण प्राणिमात्र के प्रति जो कर्तव्य है, उसका विचार भी धर्म के अन्तर्गत होता है। इसी प्रकार उपासना के साम्प्रदायिक अर्थों का निरसन कर आर्य समाज ने उसे मानव का परमात्मा के प्रति सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य बताया तथा मध्यकाल में प्रचलित अकर्मण्यता, भाग्यवाद तथा निराशा-

---

१ त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः "अतो धर्माणि धारयन्"।
१।२२।१८

२ यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ १।१।२

३ वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ २।१२

४ आचारः प्रथमो धर्मः। मनु० १।१०८

वाद की प्रवर्तक भक्ति से उसका पार्थक्य सिद्ध किया। पूर्वजों का जो गौरव-शाली दाय जिस माध्यम से उत्तरवर्ती लोगों को प्राप्त होता है उसे 'सम्प्रदाय' नाम से अभिहित किया जाता है। अत: भारत के स्वर्ण युगीन अतीत की गौरवपूर्ण उपलब्धियों को परम्परागत माध्यम से प्राप्त कर, उन्हें देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल परिवेश में पुन: देशवासियों को उपलब्ध कराना आर्य समाज का अभीष्ट रहा।

प्रस्तुत अध्याय में हमें आर्य समाज के धार्मिक सिद्धान्तों का अध्ययन करना है। धर्म के विभिन्न पहलुओं के द्वारा ही उस के सर्वांगीण स्वरूप का परिचय मिलता है। प्राय: धर्म के दो पक्ष स्वीकार किए गये हैं–सिद्धान्त और मान्यतायें तथा कर्मकाण्ड। आधुनिक काल में किसी विशिष्ट दार्शनिक या धार्मिक सम्प्रदाय का अध्ययन करते समय उसकी ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा तथा उसके आचार शास्त्र का अनुशीलन किया जाता है। आर्य समाज के धार्मिक सिद्धान्तों का अध्ययन भी इसी सरणि से करना आवश्यक एवं फलप्रद है।

आर्य समाज की ज्ञान मीमांसा

आर्य समाज ने पुरातन दार्शनिकों की ही भांति प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द को ज्ञान का आधार माना है। उसका विशिष्ट बल वेद प्रमाण की पुन: स्थापना पर रहा। वेद के प्रति आर्य समाज के प्रवर्तक की अगाध निष्ठा थी। उनकी इस अवधारणा में पूर्ण सच्चाई थी कि भारत में सुधार एवं संस्कार का कार्य तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक प्रत्येक सुधार की बात को वैदिक अथवा वेदानुमोदित सिद्ध नहीं कर दिया जाता। कारण अत्यन्त स्पष्ट है। वेद के समक्ष सभी शास्त्र, आचार्य तथा सम्प्रदाय नतमस्तक होते हैं। वेदों का प्रामाण्य प्रत्येक आस्तिक हिन्दू के लिए स्वीकरणीय है। परन्तु दयानन्द ने वेद प्रमाण को केवल आस्था या विश्वास तक ही सीमित नहीं रखा। उनका यह कथन है कि वेद मन्त्रों में जिस ज्ञान राशि का संचय किया गया है, वह सर्वथा युक्ति एवं तर्क-सिद्ध है, फलत: उसे अमान्य करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। भारत के सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन सम्प्रदायाचार्यों ने वेदों के प्रति अपनी श्रद्धा-पूर्ण धारणा तो व्यक्त की, उन्हें अपौरुषेय तथा ईश्वरोक्त भी कहा, किन्तु वैदिक ज्ञान की मान्यता इसलिए है, क्योंकि वह युक्ति-सिद्ध, तर्कानुमोदित एवं विज्ञान के अनुकूल भी है, यह बताना दयानन्द का ही काम था। वेदों के प्रति दयानन्द की इस भावना को समझने में अनेक लोगों से भूलें हुई हैं। आर्य समाज के वैदैक्य प्रमाणवाद को ठीक ठीक हृदयंगम न कर पाने के कारण जो एतद्विषयक आपत्तियाँ उठाई गई हैं उन में कुछ प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

(१) आर्य समाज ने वेद प्रमाण पर अधिक जोर देकर मानव चिंतन को सीमित और संकुचित बना दिया है।

(२) जो सम्प्रदाय वेद प्रमाण को स्वीकार भी करते हैं उन्हें आर्य समाज के सहिता-प्रमाण-वाद (मात्र वेद सहिताओं को ही स्वत: प्रमाण मानना) पर आपत्ति है। उनके अनुसार ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि ग्रन्थ भी वेद संज्ञा के अधिकारी हैं।

(३) संहिता-प्रमाण-वाद पर भी सम्भवत: अनेक लोग आपत्ति न करें, परन्तु स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ करने की जिस निरुक्त सम्मत प्रणाली पर जोर दिया, उसे स्वीकार करना अनेक वैदिकों के लिए सम्भव नहीं रहा। ऐसा करने से वेदों के विभिन्न साम्प्रदायिक, ऐतिहासिक अथवा कर्मकाण्ड परक अर्थ करने की छूट पर सहज ही अंकुश लग जाता है।

स्थान के संकोच के कारण उपर्युक्त आपत्तियों का विस्तृत निराकरण करने का अवकाश न रहने पर भी यह कह देना समीचीन होगा कि वेद की सर्वोपरि मान्यता को स्वीकार करके भी मानवी चिंतन को अवरुद्ध करना आर्य समाज का अभीष्ट नहीं है। उसकी तो यह धारणा है कि वेद में कुछ ऐसे सार्वजनीन तथ्य प्रतिपादित किये गये हैं जो सार्वकालिक तथा सार्वभौम हैं। विभिन्न प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विद्यायें अपने मूल रूप में वेदों में विद्यमान हैं अत: वेदाध्ययन में प्रवृत्त होने से मनुष्य के मानसिक क्षितिज का विकास ही होता है न कि संकोच। इसी प्रकार सहिताओं को ही वेदों की संज्ञा से अभिहित करने के कुछ विशिष्ट किन्तु प्रबल कारण हैं। वस्तुत: ब्राह्मण ग्रन्थ तो वेदों की ही व्याख्यायें हैं जिन में वेद मन्त्रों के विविध वैज्ञानिक, याज्ञिक तथा रहस्यपूर्ण अर्थों का विवेचन हुआ है। आरण्यक एवं उपनिषदों में निश्चय ही ब्रह्म-विद्या का एकान्त विवेचन हुआ है, परन्तु इस परा-विद्या का विस्तार भी उपनिषद्कार ऋषियों ने वेदों में विवेचित दार्शनिक धारणाओं के आधार पर ही किया है। यह दूसरी बात है कि वेद संहितायें मात्र दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक विवेचन तक ही सीमित नहीं हो सकतीं क्योंकि मानव के लिए उपयोगी बहुविध ज्ञान-विज्ञान का प्रस्तुतीकरण ही उनके लिए अभीष्ट है।

जहां तक मंत्रार्थ के लिए नैरुक्त प्रक्रिया के अवलम्बन का प्रश्न है, आर्य समाज यह मानता है कि यही वह पद्धति है जिसको स्वीकार कर मंत्रगत रहस्य का स्पष्टीकरण हो सकता है। वैदिक शब्द यौगिक हैं न कि रूढ़ि। अत: उनके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करने से ही उनकी संपूर्ण अर्थवत्ता स्पष्ट होती है। यदि इस प्रणाली को स्वीकार नही किया जाता तो मात्र याज्ञिक पद्धति

का स्वीकार कर या तो हम पूर्वकालिक वेद मंत्रों को पश्चात्वर्ती यज्ञवाद से जोड़कर घोड़े के आगे गाड़ी रखने वाला काम करेंगे अथवा वेदों में यत्र–तत्र उपलभ्यमान्, आपाततः व्यक्तिवाचक प्रतीत होने वाले शब्दों के ऐतिहासिक अर्थ कर संसार के इस प्राचीनतम वाङ्मय में कुछ ऐसी कथा कहानियों को निकालने की चेष्टा करेंगे जिनका उनमें वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है, अथवा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा आविष्कृत और प्रयुक्त अपूर्ण भाषा विज्ञान, देव गाथावाद तथा विकासवाद का पल्ला पकड़कर वेदों के प्रकृत उदात्त, गम्भीर एवं उच्च आशय को नष्ट कर बैठेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों के प्रति आर्य समाज तथा उसके प्रवर्तक का दृष्टिकोण न तो संकीर्ण है और न अवैज्ञानिक। वह मात्र भावुकता पूर्ण भी नहीं है जैसा कि भारतीय पुनर्जागरण में दयानन्द के योगदान का उल्लेख करते हुए प्रसिद्ध विचारक एवं साहित्यकार स्व० कन्हैयालाल मुन्शी ने लिखा था अपनी भावुक अपील के लिये दयानन्द सरस्वती ने युगों की दृढ़ आधार शिला वेदों का आश्रय लिया। वस्तुतः वेद–प्रमाण की एक सुनिश्चित परम्परा रही है। वह एक ऐसा सुदृढ़ विश्वास है जो युक्ति एवं तर्क पर आधारित होने के कारण एतद्देशियों को नितान्त सुस्थिर तथा चट्टान की भांति दुर्लंघ्य लगता है।

वेद प्रमाणवाद के साथ साथ दयानन्द तथा आर्य समाज ने आर्ष ग्रन्थ-प्रमाणवाद को भी स्वीकार किया। स्वामी जी को आर्ष अनार्ष विवेक की प्रज्ञा अपने सुगृहीत नाम ध्येय गुरु स्वामी विरजानन्द से प्राप्त हुई थी। व्याकरण विषयक एक शास्त्रार्थ के प्रसंग में प्रज्ञा–चक्षु विरजानन्द को यह सत्य सूर्य की भांति आभासित हुआ कि ऋषि कृत ग्रन्थ विज्ञान, सत्य एवं बुद्धि के अनुकूल, सरल एवं प्रसाद पूर्ण शैली में लिखित तथा स्वल्प परिश्रम से ही प्रचुर लाभ कराने वाले होते हैं, जब कि क्षुद्राशय मनुष्यों द्वारा रचित ग्रन्थ शब्दाडम्बर युक्त, क्लिष्ट शैली वाले, तर्क युक्ति एवं प्रमाण शून्य, अंध विश्वासों की सृष्टि करने वाले होते हैं। विरजानन्द ने जब आर्ष अनार्ष ग्रन्थों का विवेक किया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि व्याकरण में कौमुदी, सारस्वत, शेखर, मनोरमा आदि श्रीमद्भागवत नामधारी पुराण ग्रन्थ, शिव शक्ति के संवादों के व्याज से रचे सदाचार एवं वैदिक मर्यादाओं के विनाशक तंत्र आदि ग्रन्थ अनार्ष संज्ञक हैं। अतः आर्यों का सार्वत्रिक अभ्युत्थान तब तक संभव नहीं है जब तक आर्ष ग्रन्थों का प्रचलन एवं अनार्ष ग्रन्थों का निरसन न हो।

विरजानन्द ने शास्त्र ग्रन्थों की विवेचना जिस आधार पर की उसे एक सुदृढ़ सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय उनके अद्वितीय शिष्य दयानन्द

को है। दयानन्द की यह स्पष्ट मान्यता थी कि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में नहीं हो सकता। महर्षि लोगों का आशय जहां तक हो सके वहां तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे इस प्रकार का होता है और क्षुद्रांशय लोगों की मंशा ऐसी होती है कि जहां तक बने वहां तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़ के अल्प लाभ उठा सकें[१]। अपने मन्तव्य को सुस्पष्ट करने की दृष्टि से स्वामी जी ने पठन पाठन व्यवस्था प्रकरण में आर्ष एवं अनार्ष ग्रन्थों की पृथक्-पृथक् दो सूचियाँ उपस्थित की हैं[२]। जिन पर स्वल्प दृष्टिपात करने से ही स्पष्ट हो जाता है कि धर्म, दर्शन, आचार विषयक उन्हीं ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन लाभदायक होता है जो ऋषि मुनियों की आर्ष प्रणाली पर निर्मित है।इसके विपरीत मात्र अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने वाले अनुदार एवं संकीर्ण सम्प्रदायामिनिवेशी लोगों द्वारा रचित ग्रन्थ अनार्ष श्रेणी मुक्त हैं जिनका अध्ययन कथमपि लाभदायक नहीं हो सकता ।

आर्य समाज ने शास्त्र विवेक विषयक उपर्युक्त मन्तव्य का सतर्क ऊहापोह किया है। शास्त्रार्थों, धर्म चर्चाओं तथा वाद–विवादों में उसे जो आज तक विजय प्राप्त होती रही, उसका कारण भी यही है कि वह ऐसे किसी ग्रन्थ का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करता जो अज्ञान, अविवेक तथा मूढ़ता को प्रश्रय देने वाला हो। हमारे धर्म और समाज में जो मिथ्या आचारों और अंध विश्वासों की सृष्टि हुई उसका कारण अनार्ष ग्रन्थों का ही प्रचार था। स्त्री शूद्रों को वेदाधिकार से वंचित करना, यज्ञ में पशु हिंसा, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, मृतक श्राद्ध आदि की पुराण कल्पित धारणायें अनार्ष मस्तिष्क की ही उपज हैं।

धर्म में बुद्धिवाद का समावेश आर्य समाज की एक और विशेषता है। वस्तुत: यदि धर्म का आधार बुद्धि और युक्ति न हो तो वह मिथ्या विश्वासों का एक पुंज मात्र रह जाता है। वैदिक धर्म ने तर्क का कभी तिरस्कार नहीं किया। महर्षि यास्क ने निरुक्त में तर्क को ऋषि कहा है[३]। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद वेदों की रचना बुद्धिपूर्वक हुई मानते हैं[४]। तर्क और युक्ति का यह महत्व धीरे धीरे धर्म के क्षेत्र से लुप्त होता गया। उसका स्थान अंध-श्रद्धा और अंध विश्वास ने लिया। आर्य समाज ने स्पष्ट घोषित किया

---

१ सत्यार्थप्रकाश : तृतीय समुल्लास
२ वही
३ निरुक्त १३।१२ 'तर्क एव ऋषि:'
४ बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ।६।१।१

कि वास्तविक धर्म वही है जो युक्तिसिद्ध तथा तर्क और बुद्धि के अनुकूल हो। आर्य समाज के प्रवर्तक ने सत्य और असत्य की परीक्षा के लिये जो पाँच कसौटियां निर्धारित की हैं उनमें जहाँ वेद, स्मृति आदि शास्त्र, आप्त वाक्य तथा आत्मा के अनुकूल होने को सत्य का लक्षण बताया है वहां सृष्टि नियमों के अविरुद्ध होने तथा प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों से सिद्ध होना भी सत्य के लिये आवश्यक माना है[१]। आर्य समाज के इस प्रखर बुद्धिवाद ने धर्म के संशोधन में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया। अन्य मत सम्प्रदायों के लोग भी आर्यसमाज की तथ्यपूर्ण आलोचना से भयभीत होकर अपने मत-विश्वासों को बुद्धि के अविरुद्ध सिद्ध करने की चेष्टा करते रहे हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आर्य समाज की ज्ञान मीमांसा जहाँ प्राचीन भारतीय दर्शनों में प्रतिपादित प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण को यथावत् स्वीकार कर लेती है वहां उसने शब्द प्रमाण को वेदेक्य-प्रमाण तथा आर्ष-ग्रन्थ-प्रमाण के रूप में व्याख्यात किया तथा धर्मालोचनाओं में बुद्धि एवं विवेक पर बल देकर उसे आज के वैज्ञानिक युग के अधिकाधिक अनुकूल बनाया।

आर्य समाज की तत्त्व मीमांसा

आर्य समाज ने किसी नूतन दार्शनिक पद्धति का सूत्रपात नहीं किया। उसने पुरातन वैदिक दर्शन को ही सृष्टि प्रपंच के समाधान के लिये उपयोगी और समर्थ माना है। यह दूसरी बात है कि संसार के समक्ष आर्य समाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का समाज सुधारक, धर्म प्रचारक तथा देश के राष्ट्रीय जीवन में नवीन प्राण संचार करने वाले युग विधाता महापुरुष का रूप तो आया परन्तु उनके दार्शनिक चिन्तक के रूप से अधिकांश लोग अपरिचित ही रहे। सामान्यत: यह समझा गया कि स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में किसी विशिष्ट दार्शनिक मतवाद का न तो निरूपण ही किया है और न उनके ग्रन्थों के आधार पर किसी सुविचारित दर्शन की रूपरेखा ही बनाई जा सकती है। वस्तुत: यह धारणा भ्रमात्मक ही है। स्वामी दयानन्द का प्रखर दार्शनिक चिंतन उनके ग्रन्थों में पदे पदे उद्भासित हुआ है[२]। वे शंकर, रामानुज और

---

१ सत्यार्थप्रकाश: तृतीय समुल्लास

२ दयानन्द दर्शन की व्याख्या के लिये द्रष्टव्य ग्रन्थ–

(1) A Critical study of the Philosophy of Dayanand by Dr. Satya Prakash.

(2) Philosophy of Dayanand by Pt. G. P. Upadhyaya.

(३) दयानन्द दर्शन–डा० वेदप्रकाश गुप्त

मध्व की कोटि के आचार्य हैं, यह दूसरी बात है कि उन्हें उक्त आचार्यों की तरह उच्च कोटि के शिष्य नहीं मिले जो उनके तत्त्व-ज्ञान को विश्व में प्रचारित करते ।

शंकराचार्य के संबंध में यह कहा जाता है कि यदि उन्हें पद्मपाद और सुरेश्वर जैसे शिष्य नहीं मिलते तो संभवत: उनकी वेदान्त की विचार धारा को उतना व्यापक प्रचार नहीं मिलता, जितना कि कालान्तर में मिला । इसी प्रकार श्री रामकृष्ण परमहंस जैसे शास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा शून्य व्यक्ति को स्वामी विवेकानन्द जैसे विलक्षण मेधा-सम्पन्न शिष्य नहीं मिलता तो न रामकृष्ण ही सर्वपूज्य होते और न उनकी समन्वयशील वेदान्त की विचार-धारा का ही विदेशों में प्रचार हुआ होता । इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द को सौभाग्यशाली नहीं कहा जा सकता । उन्हें कोई ऐसा शिष्य नहीं मिला जो उनके दर्शन तथा चिंतन की विशद व्याख्या कर उन्हें एक सार्वभौम दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करता । स्वामी दयानन्द के दर्शन पर न तो अधिक व्याख्यात्मक ग्रन्थ ही लिखे गये और न उसके वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने की ही चेष्टा हुई ।

वस्तुत: दयानन्द विश्व प्रपंच की एक व्यावहारिक व्याख्या करने वाले यथार्थवादी दार्शनिक थे । अपने सन्यासी जीवन के प्रारम्भ में वे शांकर अद्वैतमत के अनुयायी रहे, परन्तु नव्य वेदान्त के प्रति उनकी यह निष्ठा एक भारतीय हिन्दू सन्यासी की सामान्य निष्ठा के तुल्य ही थी । ज्यों ही उन्हें ईश्वर, जीव और प्रकृति की त्रिपुटी पर अधिकाधिक विचार करने का अवसर मिला, त्यों ही वे वेदान्त की विचारधारा से पराङ्मुख हो गये । उनके जीवन चरित में डुमरांव निवासी पं० दुर्गादत्त से हुये एक शास्त्रार्थ का विवरण मिलता है जिसमें उन्होंने अपने को स्पष्ट ही द्वैतवादी माना था तथा उपनिषद् वर्णित 'एक मेवाऽद्वितीयम् ब्रह्म' की व्याख्या करते हुए कहा था इसका यह अर्थ है कि जैसे किसी के घर में कोई उपस्थित न हो तो वह कहता है कि यहां (घर में तो) मैं एक ही हूँ और कोई नहीं, परन्तु उसके इस कथन से गाँव वालों और नाते वालों तथा कुटुम्ब का निषेध नहीं होता, वे अन्यत्र विद्यमान हैं, उसका अस्वीकार नहीं । शकराचार्य जैसे मानते हैं कि सजाति, विजाति, स्वगत भेद शून्य ब्रह्म है, यह मत मिथ्या है, हम उसको नहीं मानते यहाँ केवल दूसरे ब्रह्म का निषेध है न कि जीव का' [१] ।"

---

१ महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित भाग १ पं० घासीराम द्वारा सम्पादित पृ० २४६

स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द का दर्शन जीवेश्वर भेद पर आधारित है। इस भेदवादी दृष्टि को स्वीकार करने से ही जीव का परमात्मा के प्रति उपासना भाव सिद्ध हो सकता है। वेद-जो दयानन्द के दार्शनिक चिंतन का मूलाधार है, सर्वत्र ईश्वर को उपास्य और जीव को उपासक मानता है। अत: स्वामी जी के लिये वैदिक दर्शन की इस द्वैतपरक दृष्टि को स्वीकार करना अपरिहार्य ही था। इसी प्रकार वे ईश्वर और जीव के पार्थक्य को मानने के साथ साथ प्रकृति रूपी अचेतन तत्त्व का भी पृथक् अस्तित्व स्वीकार करते हैं। दयानन्द प्रतिपादित ईश्वर को कतिपय लेखकों ने Personal God की संज्ञा दी है। उनकी धारणा है कि ईसाई, इस्लाम तथा यहूदी आदि सेमेटिक मज़हबों में जिस प्रकार कतिपय विशिष्ट गुणान्वित एक पुरुष विशेष ईश्वर की कल्पना की गई है, संभवत: उसी प्रकार का सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वगुण युक्त ईश्वर दयानन्द को भी अभीष्ट है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। न तो स्वामीजी को ईश्वर की ऐसी परिकल्पना ही मान्य थी जिसके अनुसार उसे एक देशीय माना जाता और न वे उसे कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं ही मानते हैं। स्वामी दयानन्द के अनुसार ईश्वर सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त है जो जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल प्रदाता, न्यायकारी साथ ही दयालु शासक के तुल्य है। वे जीव को अलज अल्प,शक्ति सम्पन्न किन्तु कर्म करने में स्वतंत्र मानते हैं। जीवेश्वर संबंध का विवेचन करते हुए वे राजा–प्रजा, गुरु-शिष्य, माता–पुत्र, पिता–पुत्र तथा मित्र–मित्र के रूप में दोनों का पारस्परिक संबंध स्वीकार करते हैं[१]। पति पत्नी के रूप में दोनों का पारस्परिक संबंध स्वीकार करते हैं[१]। पति पत्नी के रूप में दाम्पत्य या माधुर्य भाव की कल्पना इस प्रसंग में उन्हें स्वीकार्य नहीं है जिसका आधार लेकर हिन्दू धर्म के कतिपय वैष्णव सम्प्रदायों ने भक्ति और उपासना को विलास क्रीड़ा की स्थूल सीमा तक पहुंचा दिया था। स्वामी जी जीवको अणु मानते हैं। इस दृष्टि से उन्हें न्याय दर्शन प्रतिपाधित ईश्वर और जीव का स्वरूप ही मान्य है।

जगत् के उपादान कारण के रूप में स्वामी जी प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। प्रकृति जड़ है, परमाणु रूपा तथा त्रिगुण युक्त है, स्वतंत्र रूप से सृष्टि रचना करने में असमर्थ है, वह परमात्मा की चेतना शक्ति का सामर्थ्य

---

१ द्रष्टव्य–आर्याभिविनय में 'न तं विदाथ मंत्र की व्याख्या में लिखी गई निम्न पंक्ति–'किंच व्याप्य व्यापक, आधाराधेय (सेव्य सेवक आदि) संबंध तो जीवादि के साथ ब्रह्म का है।

पाकर ही सृष्टि रूप में व्यक्त होती है । सृष्टि के विकास की प्रक्रिया वे सांख्य दर्शन के अनुसार ही मानते हैं परन्तु नवीन सांख्याचार्यों की भांति वे दर्शन को निरीश्वरवादी नहीं मानते [१] ।

स्वामी दयानन्द के अनुसार परमात्मा की प्राप्ति ही जीव का परम लक्ष्य है । इसे ही मुक्ति अथवा निश्रेयस कहा गया है । दर्शनों ने इसे दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति तथा असीम सुख की प्राप्ति कहा । ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष लाभ का साधन है योगदर्शन प्रतिपादित उपासना पद्धति । वे ज्ञान और कर्म के समन्वय के पक्षपाती हैं । शंकर की भांति कर्म का सन्यास उन्हें स्वीकार नहीं है । 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:' को स्वीकार करते हुए भी वे आयु पर्यन्त शास्त्र विधायक कर्मों का आचरण करने के पक्षपाती हैं । मुक्ति को वे अनन्त न मानकर सान्त मानते हैं । 'न च पुनरावर्तते' आदि शास्त्रीय वाक्यों की वे अपने मन्तव्यानुसार व्याख्या करते हैं । उनकी दृष्टि में जीवन्मुक्त पुरुष अकर्मण्यता की स्थिति प्राप्त नहीं करता, अपितु अनेक विलक्षण शक्तियों से सम्पन्न होकर ईश्वरीय राज्य में यथेच्छ विचरता है । परन्तु उसमें सृष्टि रचना, पालन एवं संहार आदि के ईश्वरीय गुण नहीं आ जाते [२] ।

आर्य समाज के परवर्ती दार्शनिक विद्वानों ने स्वामी जी के तत्वज्ञान की विस्तृत व्याख्या करते हुये उसका उपबृंहण किया है । पं० गुरुदत्त ने स्वामीजी के वैदिक चिंतन को विशद रूप में व्याख्यात किया, स्वामी दर्शनानन्द ने त्रैत-वाद के विभिन्न पहलुओं की तर्क संगत समीक्षा की, महात्मा नारायण स्वामी ने 'आत्मदर्शन', 'मृत्यु और परलोक' आदि ग्रन्थों के द्वारा दर्शन के कतिपय मन्तव्यों की आलोचनात्मक समीक्षा की तथा पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय ने ईश्वर के अस्तित्व एवं जीवात्मा के अस्तित्व आदि की विवेचना करते हुए अद्वैतवाद तथा उसकी भित्ति स्वरूप शांकर वेदान्त भाष्य की आलोचना की[३] । स्वामी जी के दर्शन की व्याख्या में भी कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये ।

षडदर्शनों के प्रति स्वामी दयानन्द का समन्वय मूलक दृष्टिकोण था । वे इन्हें एक दूसरे का विरोधी नहीं अपितु पूरक मानते थे [४]। आर्य समाज ने भी इसी

---

१ सत्यार्थप्रकाश में सांख्य शास्त्र प्रवर्तक कपिल को नास्तिक मानने का स्वामी जी ने खण्डन किया है । द्रष्टव्य: सप्तम समुल्लास ।

२ सत्यार्थ प्रकाश : नवम समुल्लास

३ द्रष्टव्य-आस्तिकवाद, जीवात्मा, अद्वैतवाद तथा शांकर-भाष्यालोचन ।

४ सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में विभिन्न दर्शनों में प्रतिपादित सृष्टि रचना प्रकार का समन्वय सिद्ध किया है ।

सिद्धान्त की पुष्टि की [1]। अतः आर्य समाज सांख्य के अनुसार प्रकृति की व्यक्तावस्था के रूप में सृष्टि के विकास को यथावत् स्वीकार करता है । योगदर्शन में निर्दिष्ट उपासना प्रणाली को परमात्मा योग के साधक के लिए अभीष्ट पद्धति मानता है । उसे न्याय दर्शन में विवेचित तर्क-शास्त्र तथा पदार्थों का परिगणन मान्य है तो साथ ही वैशेषिक प्रोक्त पदार्थ मीमांसा को भी वह उचित ठहराता है । मनुष्य के पारमार्थिक कर्त्तव्यों का विधान पूर्व उत्तर मीमासां में किया गया है । जिस प्रकार मीमांसा दर्शन विभिन्न अनुष्ठान योग्य यज्ञ युगादि कर्मों का स्वरूप निर्धारित करता है उसी प्रकार उत्तर मीमांसा (वेदान्त) मनुष्य के चरम लक्ष्य परमात्मा के स्वरूप का विवेचन करता हुआ उपासना की रीति तथा मोक्ष का विधान करता है ।

मध्यकालीन दार्शनिक विचारकों ने साम्प्रदायिक दृष्टि से षड्दर्शनों का अनुशीलन कर उनके सवन्ध में जो विविध मन्तव्य प्रचारित किये हैं, स्वामी दयानन्द और आर्य समाज उन्हें तथ्यपूर्ण नहीं मानता । यथा– वह शांकर मत की इस विचारणा से सहमत नहीं है कि वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना है तथा ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की तात्त्विक सत्ता को नकारा गया है । वह शारीरिक सूत्रों के व्याख्याकार आचार्य शंकर की इस धारणा से भी असहमत है कि वादरायण रचित दर्शन में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है । इसी प्रकार आर्य समाज कापिल सांख्य को न तो निरीश्वरवादी ही मानता है और न प्रकृति को सृष्टि रचना में ईश्वर की सहायता या अपेक्षा के बिना समर्थ स्वीकार करता है । आर्य समाज के लिए सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद का विवाद निरर्थक है । उसकी धारणा यह है कि काय अपने कारण में मूलतः विद्यमान रहता है परन्तु कार्यावस्था में आ जाने पर उसमें नियत परिवर्तन भी हो जाता है । अतः इन दोनों वादों में आंशिक सत्यता है । मीमांसा को अनीश्वरवादी तथा पशु-हिंसा का प्रतिपादक दर्शन मानना उसे कथमपि अभीष्ट नहीं है । वह वेदों के अपौरुषेय होने का नव्य मीमांसकों की भांति यह अर्थ नहीं करता कि वेद की रचना किसी ने नहीं कि है अपितु अपौरुषेयता का तात्पर्य वह उसके ईश्वर कर्तृत्व से लेता है ।

---

१ षडदर्शनों का अविरोध सिद्ध करने वाले निम्न ग्रन्थ लिखे गये षड्दर्शनादर्श -ले० म० म० आर्यमुनि, षड्दर्शन समन्वय पं० बुद्धदेव मीरपुरी षड्दर्शन समन्वय-ले० स्वामी ओमानन्द तीर्थ

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्य समाज का तत्त्व-चिंतन जहाँ प्राचीन भारतीय दर्शन की मौलिक उद्भावनाओं के सर्वथा अनुकूल है, वहां वह पूर्णतया युक्तिमूलक तथा तर्कसिद्ध भी है। नव जागरण के आन्दोलनों में दार्शनिक चिन्तन की जो सुस्पष्टता हमें आर्य समाज में दिखाई पड़ती है वह न तो ब्राह्म समाज में और न थियोसोफिकल सोसाइटी में। ब्राह्म समाज के प्रवर्तक राम मोहनराय ने यद्यपि अपने दार्शनिक विचारों को स्पष्टतः व्यक्त करने का कोई प्रयास नहीं किया था, परन्तु उपनिषदों के अनुवाद तथा वेदान्त सूत्र की टीका लिखकर उन्होंने प्रचलित वेदान्तवाद के प्रति अपनी आस्था अवश्य व्यक्त की। थियोसोफिस्टों ने यों तो सम्पूर्ण हिन्दू चिन्तन के ही प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की परन्तु उनका दार्शनिक मन्तव्य क्या था, यह स्पष्ट नहीं है। निश्चय ही रामकृष्ण और विवेकानन्द ने शांकर वेदान्त को अपना आधार भूत मन्तव्य स्वीकार किया तथा उसको एक सुविचारित दर्शन का रूप भी प्रदान किया। आर्य समाज का दर्शन उसके सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यों की पृष्ठभूमि में प्रायः ओझल हो गया।

आर्य समाज का आचार दर्शन

ज्ञान मीमांसा तथा तत्त्वदर्शन का विवेचन करने के पश्चात् हमें आर्य-समाज की आचार मीमांसा पर विचार करना है। संसार में कतिपय मत और सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनका तत्त्वज्ञान बिल्कुल साधारण, छिछला तथा प्रभावहीन होता है, परन्तु वे अपने अनुयायियों के लिए विभिन्न आचार-अनुष्ठानों का आडम्बरपूर्ण विधान करते हैं। ईसाई मत तथा इस्लाम में अपने मतावलम्बियों के विभिन्न करणीय कर्मों का विस्तृत प्रावधान है जबकि उनका दर्शन सर्वथा अनुल्लेखनीय है। बौद्ध और जैन मतों का दार्शनिक पक्ष तथा आचार पक्ष प्रायः सन्तुलित है, यह दूसरी बात है कि इन मतों के अधिकांश अनुयायी अपने सम्प्रदाय के तत्त्व ज्ञान से अनभिज्ञ हों तथा केवल उसके आचारगत पहलू को ही महत्त्व देते हों। आर्य समाज ने जहां अपने दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों को प्राचीन वैदिक चिन्तन के आधार पर प्रतिष्ठित किया वहां उसका आचरण प्रधान कर्मकाण्ड भी मानव के सर्वांगीण विकास का ही आधार प्रस्तुत करता है।

आर्य समाज की यह धारणा है कि मनुष्य को धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए कतिपय दार्शनिक एवं आध्यात्मिक मान्यताओं को स्वीकार कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे उन धारणाओं को अपने जीवन में मूर्त रूप देने के लिए भी तत्पर रहना चाहिए। आर्य समाज ने मनुष्य जीवन को आचारनिष्ठ बनाने पर जोर दिया। आचार हीन व्यक्ति को वेदाध्ययन भी पवित्र नहीं

बना सकता[1] यह आर्य समाज का दृढ़ विश्वास है। आचार का वर्जन ही द्विजों को मृत्यु का ग्रास बनाता है। यह आर्य विधान के प्रवर्तक मनु का स्पष्ट उद्‌घोष है[2]।

आर्य समाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने मानव जीवन के आदर्श आचार विधान को 'यज्ञ' का पर्याय माना है। यह स्मरण रहे कि दयानन्द ने 'यज्ञ' की जो व्याख्या तथा स्वरूप निर्धारण किया है, वह अत्यन्त व्यापक तथा मध्यकालीन विचारकों की धारणाओं से सर्वथा विपरीत है, मूलतः 'यज्ञ' शब्द जिस धातु से बना है उससे देवपूजा, संगतिकरण एवं दान जैसे उदात्त अर्थ निष्पन्न होते हैं। फलतः समाज के मान्य पुरुषों का आदर एवं सम्मान, समाज की चतुर्दिक उन्नति एवं प्रगति हेतु समायोजन तथा दान की उच्च एवं पूत भावनाओं की अभिवृद्धि ही यज्ञ का वास्तविक अभिप्रेत है। वस्तुतः पुरातन वैदिक एवं आर्ष वाङ्मय में यज्ञ का यह व्यापक एवं लोकहित को समाहित करने वाला अर्थ ही प्रचलित था, परन्तु कालान्तर में जब वैदिक धर्म के अमल धवल स्वरूप पर साम्प्रदायिकता तथा संकीर्णता के काले बादल छा गये तो 'यज्ञ' शुष्क एवं अर्थहीन कर्मकाण्ड का प्रतीक बन गया। 'यज्ञ' के नाम पर जिस जटिल, अस्पष्ट एवं स्थूल कर्मों का प्रचलन हुआ उसे ही देखकर बुद्ध और महावीर ने वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में अपनी आवाज उठाई। वस्तुतः मध्यकालीन कर्मकाण्ड के ये ग्रन्थ मनुष्य बुद्धि के सार्वत्रिक पतन एवं ह्रास के ही सूचक है। यज्ञ का अर्थ ही संकुचित नहीं हुआ, उसके नाम पर अनेक क्रूर एवं जुगुप्साजनक कर्म भी होने लगे। यज्ञों में पशु हिंसा सार्वधिक अवाँछनीय कृत्य था जिसने यज्ञ प्रथा को सर्वथा दूषित एवं विकृत बना दिया। अश्वमेध, गोमेध एवं नरमेध जैसे यज्ञों के वास्तविक अभिप्राय से अनभिज्ञ पुरोहित वर्ग ने तत् तत् प्राणी को मार कर अग्नि में होम देने को ही यज्ञ की चरम सफलता माना। दयानन्द की यह क्रान्तदर्शिता ही थी कि उन्होंने

---

१ आचार हीना न पुनन्ति वेदाः।

२ अनभ्यासेन वेदानाभाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रांजिघासन्ति ॥ ५।४

उपर्युक्त यज्ञों के वास्तविक अभिप्रायों को स्पष्ट कर अश्वमेधादि को राष्ट्रोपयोगी कर्मों के रूप में प्रस्तुत किया[1]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्य समाज का आचार दर्शन यज्ञ-मूलक है। स्वामी दयानन्द ने अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों का आचरण मनुष्य के लिये इतिकर्तव्य माना है[2]। अग्निहोत्र जहां मनुष्य के वैयक्तिक हित एवं कल्याण का प्रतीक है वहां अश्वमेध समष्टिगत उन्नति एवं प्रगति का सूचक है। जैसा कि हम पूर्व ही देख चुके हैं सभी लोकोपकारी कर्म 'यज्ञ' नाम से अभिहित होते हैं। इस प्रकार आर्य समाज ने परोपकार, जनहित एवं सर्वभूतहित को यज्ञ का पर्याय माना। महर्षि मनु ने अपने स्मृति शास्त्र में पंच महायज्ञों का विधान प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक माना है[3]। यदि मनु प्रोक्त पंच यज्ञों का आचरण समाज मे सर्वत्र होने लगे तो व्यष्टि एवं समष्टि के हित साधन में कोई शंका नहीं रहेगी। हम अत्यन्त संक्षेप में इन यज्ञों के मूल अभिप्राय को स्पष्ट करने का यत्न करते हैं।

ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत संध्योपासना तथा वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय परिगणित होता है। संध्या के द्वारा मनुष्य अपने से श्रेष्ठ एवं वरिष्ठ परमात्मा के प्रति अपने कर्तव्य की पूर्ति करता है। परमात्मा की स्तुति प्रार्थना एवं उपासना ब्रह्मयज्ञ का चरम तात्पर्य है। यहां स्थान संकोच से इतना लिख देना ही पर्याप्त है कि आर्य समाज ने ईश्वर-भक्ति एवं उपासना का भी वैज्ञानिक एवं तर्क संगत विश्लेषण करते हुए स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना के मुख्य तात्पर्य को स्पष्ट किया है[4]। स्वाध्याय के द्वारा हम पुरातन ऋषियों के प्रति अपनी आस्था

---

१. राष्ट्रं वा अश्वमेधः (शतपथ ४।३।१।२५) अग्निर्वा अश्वः (शतपथ ३।६।२।५) इन ब्राह्मण वचनों की व्याख्या करते हुये स्वामी जी ने लिखा—"राजा न्याय धर्म से प्रजा का पालन करे, विद्यादि का देने हारा यजमान और अग्नि में भी घी आदि का होम करना अश्वमेध"। सत्यार्थप्रकाश : एकादश समुल्लास।

२ देवयज्ञ— "जो अग्निहोत्र से ले के अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा संग करना"। सत्यार्थ प्रकाश : तृतीय समुल्लास।

३ ऋषि यज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्॥ ४।२१

४ द्रष्टव्य—सत्यार्थप्रकाश : सप्तम समुल्लास

और श्रद्धा तो प्रकट करते ही हैं, उनके द्वारा रचित नाना शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन कर उनके इस मूल्यवान दाय को सुरक्षित भी रख सकते हैं। यदि स्वाध्याय एवं प्रवचन परम्परा का लोप हो जाय तो मानव जाति की सांस्कृतिक थाती विनष्ट हो जायेगी।

देवयज्ञ–अग्निहोत्र के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने वाला देवयज्ञ भौतिक एवं चेतन देवताओं की तुष्टि हेतु किया जाता है। अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश आदि महाभूत देवसंज्ञक हैं। इनको स्वच्छ रखना मनुष्य के स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य एवं मंगल केलिए अत्यन्त आवश्यक है। अग्निहोत्र कर्म का सम्पादन, वातावरण की शुद्धि का एक प्रमुख हेतु है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि प्राचीन मीमांसा-शास्त्र ने अग्निहोत्रादि कर्मों को स्वर्ग प्राप्ति का कारण बताते हुए उन्हें अदृष्ट फलों का साधक माना था। आर्य समाज ने मीमांसा प्रतिपादित हेतु का युक्ति-संगत अर्थ करते हुए यज्ञ-कर्म के अलौकिक एवं दोनों लाभों को ही स्वीकार किया। यज्ञ के द्वारा प्राप्त होने वाले भौतिक एवं मानसिक सुखों की प्राप्ति ही स्वर्ग प्राप्ति है, अग्नि, वायु, जलादि को स्वच्छ बनाना तथा वायु मण्डल की शुद्धि ही देवताओं की पूजा है। यज्ञ कर्म सम्पादनार्थ होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा आदि ऋत्विजों का सम्मान ही समाज के सर्वमान्य एवं सर्वपूज्य देवों का सत्कार है। इन यज्ञों में उपस्थित होने वाला चातुर्वर्णिक समाज ही समष्टिगत संगतिकरण का कारण बनता है। इसी अवसर पर समाज के पीड़ित एवं त्रस्त वर्ग के लोगों के उत्थान की योजनायें बनाना एवं सम्मानार्ह लोगों का दान दक्षिणा पूर्वक सत्कार करना देवयज्ञ की एक अनिवार्य फलश्रुति है।

पितृयज्ञ – अपने से वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध लोगों का पालन, सत्कार एवं पूजा पितृयज्ञ का वास्तविक अभिप्राय है। माता, पिता, गुरु एवं आचार्य प्रत्येक गृहस्थ के लिए आदरास्पद होते हैं। अतः पितृयज्ञ के अन्तर्गत इन गुरुजनों की सेवा, सत्कार एवं सुश्रुषा ही अभीष्ट है। मध्यकाल में मृत पूर्वजों के श्राद्ध की प्रथा प्रचलित हुई। तब यह माना जाने लगा कि कतिपय पुराण शास्त्रीय कृत्यों के द्वारा परलोकगत पूर्वजों की संतुष्टि की जा सकती है। स्वामी दयानन्द ने श्राद्ध और तर्पण जैसे शब्दों को एक नवीन किन्तु युक्ति संगत अर्थ प्रदान करते हुये सिद्ध किया कि श्रद्धापूर्वक किया गया सेवाकर्म ही श्राद्ध है और जो पितरों की अभीष्ट पूर्ति तथा तृप्ति हेतु कार्य किए जाते हैं वे ही तर्पण हैं[1]। स्वामी

---

१ 'श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा श्रद्धा, श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धम्'। तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम् सत्यार्थप्रकाश : चतुर्थ समुल्लास

जी ने प्रमाणपुरस्सर यह भी सिद्ध किया कि दिवंगत पितरों का श्राद्ध कथमपि संभव नहीं है, क्योंकि मनुष्य का अपने माता, पिता, पितामहादि से सांसारिक संबन्ध तभी तक रहता है, जब तक वे जीवित रहते हैं। मृत्यु के पश्चात् जीव स्वकर्मानुसार अन्य जन्म धारण करता है, अतः उसके इहलौकिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। पुनः ब्राह्मण भोजन एवं पिण्डदान आदि के द्वारा परलोकगत आत्माओं की तुष्टि नितान्त हास्यास्पद ही मानी जाएगी।

भूतयज्ञ – मनुष्येतर जीवों को भोजन, अन्न आदि समर्पित करना मनुष्य की उच्चतर चेतना तथा उसके सर्व प्राणिहित भाव का प्रतीक है। प्राणिसृष्टि में अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने वाले मानव के लिए यह आवश्यक है कि वह इतर प्राणियों के योग क्षेम का सतत चिन्तन करता रहे। इसी सर्वभूतहित की मंगल विधायिनी वृत्ति को साकार करने के लिये हमारे लोकहित भावापन्न पूर्वजों ने भूतयज्ञ अथवा बलिवैश्वदेव की सृष्टि की थी। चींटी, कौवे, कुत्ते आदि तुच्छ प्राणियों का हित भी एक आर्य गृहस्थ को अभीष्ट है, यही भूतयज्ञ का मूल अभिप्रेत है। आज जब मानव अपनी अहंता एवं गर्व के सर्वोच्च सोपान पर चढ़कर अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए विश्व पिता की इस व्यापक सृष्टि में सांस लेने वाले अन्य प्राणियों के प्रति अत्यन्त क्रूर एवं कठोर बन गया है उस समय भूतयज्ञ में निहित करुणा एवं औदार्य के भावों की पूतता और महत्ता को हृदयंगम करना आवश्यक हो जाता है।

अतिथि यज्ञ – मनुष्य जहाँ अपने से वरिष्ठ, ज्येष्ठ एवं कनिष्ठों के प्रति उदार एवं सेवाभाव परायण हो वहां सामान्य मानव के प्रति भी उसका व्यवहार अत्यन्त सौमनस्य पूर्ण होना चाहिए। अतिथि यज्ञ के भीतर यही भाव सन्निविष्ट है। अपरिचित एवं अज्ञात व्यक्ति भी हमारी सेवा एवं सत्कार का अधिकारी है, इसी उदार भावना को स्वीकार कर हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की कल्पना को साकार कर सकते हैं तथा 'यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्' के औपनिषदिक आदर्श को चरितार्थ करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनु द्वारा उपदिष्ट एवं दयानन्द द्वारा उपबृंहित पंच महायज्ञों का उपर्युक्त विधान निरर्थक, अस्पष्ट क्रिया जालों का समूह न होकर व्यष्टि एवं समष्टि, श्रेय और प्रेय, इहलोक एवं परलोक के कल्याण का एक युक्तिसंगत मार्ग है।

पंच महायज्ञों की ही भांति षोडश संस्कारों को भी मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक माना गया है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त इन संस्कारों का मानव के लिए जो शरीर-शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक तथा समष्टिगत महत्त्व है उसे मध्यकालीन संस्कार-

पद्धतियों ने विस्मृत कर दिया तथा संस्कारों का वैज्ञानिक स्वरूप लुप्त हो गया। भारतीय आर्य समाज ही नहीं अपितु संपूर्ण मानव जाति को स्वामी दयानन्द के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करनी चाहिए कि उन्होंने 'संस्कार-विधि' जैसे ग्रन्थ की रचना कर संस्कारों का महत्त्व एवं उनकी उपयोगिता प्रतिपादित की। यदि हम गृह्य सूत्रों में उपदिष्ट इन सस्कारों का सिंहावलोकन करें तो विदित होता है कि गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन तथा जातकर्म सस्कारों का सीधा सम्बन्ध शरीर निर्माण के साधक तत्त्वों से है। माता पिता के गुण, शक्ति, प्रवृत्ति एवं सस्कार किस प्रकार संक्रमित होकर बालक में आते हैं यह उपर्युक्त संस्कारों पर विचार करने से स्पष्ट होता है। नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म एवं कर्णवेध बालक के शारीरिक एव मानसिक विकास के विविध सोपान हैं। उपनयन, वेदारम्भ तथा समावर्तन के द्वारा बालक वैदिक एवं आर्ष विधाओं को आत्मसात करने तथा अपने शास्त्रीयज्ञान को प्रशस्त करने हेतु प्रयत्नशील होता है। वैदिक शिक्षा-पद्धति में छात्र के केवल बौद्धिक विकास का ही प्रावधान नहीं है, अपितु उसके चारित्रिक एवं आत्मिक गुणों को विकसित करने की ओर भी ध्यान दिया जाता है। फलत: ब्रह्मचर्य काल में वह अपने सार्वत्रिक विकास की ओर ध्यान देकर गार्हस्थ्य जीवन के गुरुतर उत्तरदायित्व का निर्वाह करने की क्षमता अर्जित करता है। खेद है कि उपनयनसंस्कार तथा शिक्षा समाप्ति के समावर्तन जैसे संस्कारों का मूल उद्देश्य एवं अभिप्राय आज लुप्तप्राय हो गया है। यही कारण है कि यज्ञोपवीत को जन्मना ब्राह्मण अपना एकमात्र जातिगत स्वत्व मानते हैं तथा द्विजेतरों के उपनयन का प्रतिषेध किया जाता है। उपनयन के तीन सूत्रों में पितृ, देव तथा ऋषि ऋणों से उऋण होने की जो भावना है उसे सर्वथा विस्मृत कर दिया गया है।

विवाह गृहस्थ जीवन का प्रवेश द्वार है। विवाह की वैदिक मर्यादा किस प्रकार स्त्री पुरुष के पारस्परिक प्रेम, सोहार्द, सहानुभूति एवं सम्मिलित दायित्व का विधान करती है, यह संस्कारगत प्रयुक्त होने वाले वैदिक एवं गृह्य मन्त्रों से स्पष्ट होता है। स्वामी दयानन्द ने गृहाश्रम को भी पृथक् संस्कार की संज्ञा प्रदान की है। अन्य आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थ का महत्त्व और उत्तरदायित्व कितना ऊंचा है यह धर्मशास्त्रकार मनु के निम्न कथन से विदित होता है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रियत्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ ३।७७

जिस प्रकार वायु के आश्रय से सब प्राणधारी अपना जीवन धारण करते

हैं, उसी प्रकार गृहस्थ पर ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासी अपनी जीविका धारण करने के लिए निर्भर रहते हैं। गृहस्थजनोचित कर्तव्य कर्मों का विधान कर स्वामी जी ने इस आश्रम को मानव के ऐहिक और पारलौकिक सुखप्राप्ति का साधन बनाया है। अवशिष्ट संस्कारों में वानप्रस्थ और संन्यास मनुष्य की लौकिक जीवन के प्रति आकर्षण की समाप्ति तथा पारलौकिकहित की दृष्टि से त्याग एवं वैराग्य का जीवन व्यतीत करते हुए परम तत्त्व के चिंतनपूर्वक शेष आयु को लोकहित में समर्पित करने की प्रेरणा देते हैं। ये वे आश्रम हैं जिन में मनुष्य व्यष्टिगत स्वार्थ का परित्याग कर समष्टि के कल्याण में प्रवृत्त होता है। मनु के निम्न श्लोक के आधार पर स्वामी दयानन्द व्यक्तिगत सम्मान को संन्यासी के लिए विष तुल्य बताते है तथा जन मंगल की सिद्धि के लिए यदि उसे अपमानित भी होना पड़े तो वे उसे श्रेयकर मानते हैं—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येवचाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥ २।१६२

अन्त्येष्टि तो मानव शरीर की अन्तिम परिणति है जिसके द्वारा यह पांच-भौतिक देह अग्नि में भस्मीभूत होकर पुनः अपनी कारणावस्था में विलीन हो जाती है और देही जीव ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार नवीन देह धारण हेतु सूत्रात्मा वायु को अपना आधार बनाता है। मृत शरीर की अग्नि के माध्यम से अन्त्येष्टि ही सर्वाधिक वैज्ञानिक प्रणाली है क्योंकि इस के विपरीत शव को भूमिगत करने से पृथ्वी एव वातावरण का जो प्रदूषण होता है वह वायु मण्डल को अधिकाधिक दोषपूर्ण बनाता हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कारों का विधान पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है तथा वह मानव के सार्वत्रिक विकास का आधार भी है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आर्य समाज के आचार दर्शन का प्रोज्ज्वल रूप स्पष्ट होता है। मध्यकालीन धर्माचार्यों ने जहां मात्र पारलौकिक कर्तव्यों पर बल दिया और लौकिक जीवन की उपेक्षा की वहां आर्य समाज ने ऐहिक और समष्टिगत कर्मों का आचरण मनुष्य के संतुलित विकास के लिए आवश्यक बताया। निर्गुण संत मत तथा वैष्णव भक्तिसम्प्रदायों ने भी नाम-स्मरण, पूजा, जप, उपासना आदि पर तो जोर दिया परन्तु आचार एवं व्यव-हारशुद्धि की ओर उनका ध्यान कम गया। इस प्रकार आर्य समाज ने धर्म के चिंतन-प्रधान पक्ष तथा उसके व्यावहारिक आचरण-प्रधान पहलू में उचित संतुलन स्थापित किया तथा धर्म को समष्टि एवं व्यक्ति का हितसाधक तत्त्व सिद्ध किया।

—o—

अध्याय ४

आर्य समाज के सामाजिक मन्तव्य

आर्य समाज का तत्व चिंतन एकांगी न होकर सर्वांगीण तथा मानवी प्रवृत्तियों के सामूहिक विकास का हित साधक है यही कारण है कि वह मनुष्य के व्यष्टिगत हित के साथ साथ उसके सामाजिक विकास की योजना भी प्रस्तुत करता है। सामाजिकता मनुष्य का एक अनिवार्य एवं अपरिहार्य गुण है। पुरातन आर्य विचारधारा भी मनुष्य की अभीष्ट प्रगति के लिए वैयक्तिकता तथा सामाजिकता के बीच सन्तुलन स्थापित करने पर जोर देती है। आर्य समाज के सामाजिक मन्तव्यों की विशिष्टता पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना उपयोगी और आवश्यक है कि भारत के मध्यकालीन धर्म सम्प्रदायों ने जीवन के सामाजिक पक्ष की सम्पूर्णतः अवहेलना और उपेक्षा की। उनकी पूर्ण शक्ति व्यक्ति की पारलौकिक उन्नति की ओर ही अभिमुख हुई थी। बौद्ध और जैन धर्मों का सामाजिक पक्ष अत्यन्त नगण्य तथा दुर्बल है। वह व्यक्ति आचार शुद्धि तथा उसके नैतिक अभ्युत्थान का तो विधान करते हैं परन्तु समष्टि की उन्नति तथा प्रगति के लिए उनके पास कोई कार्य क्रम नहीं है। यही कारण है कि वैदिक जीवन मीमांसा को अस्वीकार करने वाले बुद्ध और महावीर के अनुयायियों ने श्रमण परम्परा को विकसित किया जो पूर्णतया समाज निरपेक्ष रहकर व्यक्ति के हित साधन को महत्व देती थी। कालान्तर में बौद्धमत के अवान्तर सम्प्रदायों वज्रयान, तंत्रयान आदि में जो अनाचार मूलक साधनाओं का प्रचलन हुआ वह पूर्णतया सामाजिक मर्यादाओं के विपरीत तथा अनैतिकपूर्ण थीं।

बौद्धों की सामाजिक मर्यादाओं के विरुद्ध तांत्रिक साधनायें कालान्तर में जब शाक्त वाम मार्ग का रूप धारण कर 'पंच मकार सेवन' तथा अन्य प्रकार के सदाचार विरुद्ध क्रियाजालों के रूप में परिवर्तित हो गई तो गोरक्षनाथ जैसे शैव साधकों ने हठ योग एवं योग का उपदेश देकर उनका विरोध किया यद्यपि नाथपंथी साधुओं के योगोपदेश से उपासना के क्षेत्र में यत्किंचित परिष्कार और परिमार्जन तो हुआ परन्तु नाथ सम्प्रदाय के उपदेष्टाओं ने भी त्याग, वैराग्य और देह दण्डन को ही अधिक महत्व दिया, फलतः उससे सामाजिक हित को प्रोत्साहन नहीं मिला। जब निगुर्ण पंथी भक्ति मार्ग के प्रवर्तक कबीर नानक, दादू आदि संतों ने वर्णाश्रम-व्यवस्था को एकान्ततः अस्वीकार कर सामाजिकता की अवेहलना की एवं मनुष्य की पारलौकिक उन्नति को ही अभीष्ट

बताया तो उससे व्यक्ति हित एवं समाज हित में अनायास ही द्वन्द्व एवं विरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई। शास्त्रों की अवहेलना तथा पण्डित वर्ग की उपेक्षा के चाहे कितने ही मनोवैज्ञानिक कारण क्यों न रहे हो, परन्तु उसका परिणाम यह ही हुआ कि निर्गुणवादी सन्तों की विचारधारा सर्वथा एकांतिक, व्यक्ति निष्ठ तथा वैराग्य मूलक बनकर रह गई। इसके प्रतिरोध में सूर, तुलसी आदि वैष्णव भक्त कवियों ने अवतारवादी दर्शन के आधार पर अधिक व्यापक सामाजिक चिंतन प्रस्तुत किया जिसमें व्यक्ति, परिवार एवं समाज के समन्वयात्मक विकास की सम्भावनायें निहित थी। परन्तु सगुण भक्तों की गदलश्रु भावुकता तथा परलोक के प्रति सीमातील आसक्ति के कारण वे भी समाज के स्वस्थ एव सन्तुलित विकास की कोई योजना प्रस्तुत नहीं कर सके।

यूरोपीय शक्तियों के भारत में आगमन से पूर्व भारतीय हिन्दू समाज सर्वथा त्रस्त, पीड़ित तथा ह्रासोन्मुख दशा को प्राप्त कर चुका था। धर्म एवं दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में ब्राह्मणों को एकाधिकार प्राप्त था, जिसका दुरुपयोग वे नाना प्रकार के आवर्जनामुलक विधि निषेधों के प्रवर्तन के द्वारा कर रहे थे। सामन्त वर्ग के लोग क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत आते थे, अपने जीवन का लक्ष्य मात्र विलास वासना की पूर्ति एवं शारीरिक सुखोपभोगो को ही मानते थे। तथाकथित वैश्य समुदाय तो वैध एव अवैध उपायों से धनोपार्जन करने तथा दलितर वर्ग के श्रमिकों का शोषण एवं उत्पीड़न को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठा था। ऐसी स्थिति में अन्त्यजों, दलितों तथा समाज के पिछड़े हुये लोगों की हीन दशा तथा सार्वत्रिक पतन का तो अनुमान ही किया जा सकता है।

भारतीय नवजागरण के संदेश वाहकों ने समाज में नव चेतना का प्रादुर्भाव किया। उन्होंने पुराण पन्थी, गतानुगतिकता का पल्ला पकड कर रूढि मात्र को ही धर्म मान बैठे ब्राह्मणों को पुनः समाज के अग्रगन्ता एवं मार्ग प्रदर्शक का पद ग्रहण करने की प्रेरणा की। क्षत्रियों को हीन सत्व, क्लीव तथा कापुरुष होने के अभिशाप से बचाया। वैश्यों को ईमानदारी से द्रव्य उपार्जित करने तथा देश को समृद्ध तथा ऐश्वर्यशाली बनाने की प्रेरणा दी। शूद्रों का तो सामूहिक उत्थान ही उन्हें अभीष्ट था। इस प्रकार न केवल राष्ट्रीय स्तर पर अपितु संपूर्ण मानवता के सामाजिक धरातल को ही उन्नति एवं प्रगति के के शिखर पर पहुंचाना नवोदय के पुरस्कर्त्ताओं का लक्ष्य था।

समाज का आधार बिन्दु : वर्ण व्यवस्था—

उपर्युक्त सामान्य विवेचन के पश्चात् अब हम आर्य समाज के सामाजिक मन्तव्यों की आलोचना करेंगे। वैदिक चिंतन का आधार लेकर सामाज के पुन

निर्माण की योजना बनाने वाले आर्य समाज ने वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था को व्यक्ति एवं समाज के सन्तुलित विकास का महत्वपूर्ण साधन बताया है। आज हम देखते हैं कि वर्ण व्यवस्था पर अनेकानेक आरोप, प्रत्यारोप लगाये जाते हैं। उससे सामाजिक वैषम्य का प्रतीक, ब्राह्मणों के अधिनायकत्व का द्योतक, दलित वर्ग की अधोगति का मूल कारण तथा सामाजिक समता का विनाशक माना जाता है। ऐसे अनेक राजनैतिक तथा सामाजिक सगठन है जो वर्ण व्यवस्था के विनाश एव उन्मूलन को ही अपना ध्येय बनाये बैठे हैं। यदि पूर्व ग्रहों एव स्थापित मान्यताओं को छोड़कर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि समाज के अधः पतन के लिये किसी व्यवस्था को ही दोषी नहीं बताया जा सकता। देश एवं कालजन्य विभिन्न परिस्थितियाँ अच्छी से अच्छी सामाजिक व्यवस्था को ही छिन्न भिन्न नहीं कर देती, अपितु उसे नितान्त दोषपूर्ण, अधोगामी एवं ह्रासोन्मुख बना देती है। अतः वर्ण व्यवस्था की मूल धारणाओं और कल्पनाओं की सटीक विवेचना किये बिना उसका एकान्त खण्डन जल्दबाजी ही होगी।

पुराकालीन भारतीय ऋषियों ने समाज के सार्वत्रिक विकास में श्रम-विभाजन पूर्वक व्यक्ति के योगदान की कल्पना के आधार पर वर्ण व्यवस्था का प्रचलन किया था। प्रबुद्ध एवं मानसिक शक्तियों के स्रोत ब्राह्मण वर्ग से यह अपेक्षा की गई थी कि वे समाज का आध्यात्मिक तथा बौद्धिक नेतृत्व करेंगे। क्षत्रियों को समाज तथा राष्ट्र की सुरक्षा, तथा प्रशासन का महत्व पूर्ण कार्य सौंपा गया। व्यापार एव व्यवसाय की उन्नति तथा देश को धन्यधान्य पूर्ण समृद्धि की दिशा में अग्रसर करने वाले लोग वैश्य संज्ञा से अभिहित किये जाते थे। मात्र शारीरिक श्रम पर ही निर्भर रहने वाले तथा अपेक्षाकृत मानसिक शक्ति से हीन व्यक्ति शूद्र कहलाते थे। वस्तुतः वर्ण व्यवस्था उस मनोवैज्ञानिक सत्य पर आधारित थी जिसके अनुसार हम यह स्वीकार करते हैं कि विभिन्न अभिरुचियों, प्रवृत्तियों तथा क्षमताओं वाले मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकार के कार्य करने की क्षमता रखते हैं।

आर्य समाज में ब्राह्मण की कल्पना अज्ञान एवं अविद्या को निर्मूल करने वाले प्रचण्ड मेधा सम्पन्न उस प्रबुद्ध व्यक्ति के रूप में की गई हैं जो अनेक आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा मानसिक शक्तियों का पुंज है। यही ब्राह्मण समाज का सम्यक् मार्ग दर्शन करने की क्षमता रखता है। मनुस्मृति,[१] भगवद्गीता[२]

---

१ अध्याय १।८८

२ अध्याय १८।४२

आदि आर्ष ग्रन्थों में जहां उसके आचरण एवं कर्त्तव्यों का विधान किया गया है वहाँ उससे यह अपेक्षा रखी गई है कि वह निन्दास्तुति को तुल्य मानने वाला, सर्वथा प्रलोभन रहित तथा दैवी सम्पदा से परिपूर्ण होगा। पुराकाल में ब्राह्मण के चरम आदर्शों को चरितार्थ करने वाले वन्दनीय भूदेवों का अभाव नहीं रहा है। वसिष्ठ और विश्वामित्र, व्यास और शुकदेव, परशुराम एवं चाणक्य जैसे मनीषियों में ब्राह्मण-आदर्श की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। इस युग में भी शंकर और दयानन्द जैसे वैदिक परिपाटी के प्रचलनकर्त्ता महापुरुषों ने जन्म लेकर ब्राह्मण पद को सार्थक किया है।

क्षत्रिय वर्ण को अन्याय के प्रतिरोध में तत्पर एवं सन्नद्ध रहने के लिये कहा गया था। जब तक प्रत्येक व्यक्ति एवं वर्ग को सामाजिक सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त नहीं होता तथा निर्द्वन्द्व भाव से अपने कर्त्तव्य-पालन की स्वतंत्रता नहीं मिलती तब तक समाज में सुव्यवस्था रहना संभव नहीं है। क्षत्रियों को अन्याय के प्रतिकार का ही कार्य सौंपा गया। वे अन्य वर्णों को पूर्ण अनुशासनबद्ध रखकर समाज के सामूहिक हित में लगे रहने के लिये न केवल प्रेरित, अपितु बाधित भी करते थे। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन आदि में क्षात्र आदर्शों की परिपूर्ण निष्पत्ति दिखाई देती हैं। वैश्य वर्ग को समाज के भौतिक अभावों के उन्मूलन का कार्य सौंपा गया था। अपनी व्यावसायिक क्षमता और नैपुण्य के द्वारा वे राष्ट्र एवं समाज को समृद्धि की दिशा की ओर अग्रसर करते थे। तुलाधार वैश्य और भामाशाह जैसे वैश्य वर्ण के आदर्श प्रतिनिधियों से समाज का कितना हितसाधन हुआ है, यह स्पष्ट है।

आर्यों की वर्ण कल्पना के अनुसार शूद्र लांछना अथवा तिरस्कार का पात्र न होकर समाज में सेवा, त्याग तथा बलिदान का प्रतीक माना जाता था। वह अपनी शारीरिक शक्ति के द्वारा अन्य वर्णस्थों की सेवा को ही अपना लक्ष्य स्वीकार करता था। उसके अनुभव तथा परिश्रम का सभी लोग सम्मान करते थे। परन्तु कालान्तर में जब वर्ण का आधार कर्म न रहकर जन्म ही रह गया तो शूद्रों की अधोगति की कोई सीमा नहीं रही। वे अपने को दीन, हीन, पराधीन एवं असहाय अनुभव करने लगे तथा स्वयं उच्च-वर्णस्थ मानने वाले लोग इन पर सीमातीत अत्याचार करते रहे। आर्य-समाज ने वर्ण व्यवस्था को एक तर्क संगत एवं बुद्धि ग्राह्य आधार प्रदान किया है। प्राचीन वैदिक वाङ्मय में निहित वर्ण व्यवस्था संबंधी मूल सूत्रों का ऊहापोह करने के अनन्तर उसने यह स्पष्ट प्रतिपादित किया कि वर्ण व्यवस्था का मूलाधार कर्मपरक होना ही है। पुरातन ऐतिह्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि अपने हीन कर्मों के कारण

ब्राह्मण और क्षत्रिय भी शूद्रत्व को प्राप्त हो जाते थे और शूद्रों ने भी अपने अध्यवसाय एवं अन्य गुणों के कारण ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया था[1]। सम-यान्तर में वर्ण व्यवस्था का कर्म परक आधार तो समाप्त हुआ ही, वह स्वयं भी अपने मूल स्वरूप को नष्ट कर सहस्रों जातियों और उपजातियों के जटिल जाल के रूप में अवरुद्ध हो गई। आर्य समाज ने अपने जीवन काल में सदा ही जन्मगत जाति के कुचक्र से हिन्दू समाज को मुक्त कर उसे गुण, कर्म एवं स्वभाव के आधार पर सुगठित करने का यत्न किया है। निश्चय ही यह कार्य अत्यन्त कठिन एवं प्रयत्नसाध्य है। संपूर्ण समाज की वैचारिक प्रक्रिया को बदले बिना तथा सामाजिक ढांचे में क्रांतिकारी परिवर्तन किये बिना वर्ण व्यवस्था को पुन: स्थापित करना असाध्यसा प्रतीत होता है। इससे पूर्व कि गुण, कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था स्थापित हो, जन्म पर टिकी जाति-व्यवस्था का सर्वथा उन्मूलन आवश्यक हैं। कार्य की गुरूता को देखते हुये आर्य समाज इस ओर प्रयत्नशील है। अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन, जातिगत अभिनिवेश को दूर करने हेतु समाज में समता का प्रचार तथा मानव की मूलभुत एकता का प्रचार कर वह समाज को एक सुव्यवस्थित, सुदृढ़ तथा बलशाली रूप प्रदान करने के लिये समुत्सुक है।

क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विधाद् वैश्यातथैव च ।। मनु० १०।६५ ।।

व्यक्तिगत उन्नति का सोपान : आश्रम व्यवस्था

सामाजिक उन्नति के लिये जिस प्रकार वर्ण व्यवस्था की कल्पना की गई थी, उसी प्रकार व्यक्ति के सम्यक् विकास हेतु आश्रम विधान को भी पुरातन आर्य समाज ने क्रियान्वित किया। यह तो सुनिश्चित है कि मानव जीवन की अवधि नितान्त स्वल्प तथा सीमित है। 'शतायुर्वैपुरुष:' जैसी उक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य को १०० वर्ष की आयु नियति से प्राप्त होती है। इसी जीवन में उसे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति कर अपने अस्तित्व की सफलता तथा सार्थकता सिद्ध करनी होती है। मनुष्य के लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि जिस प्रकार अर्थोपार्जन द्वारा होती है, उसी प्रकार अपनी ऐहिक कामनाओं की पूर्ति हेतु भी उसे नानाविध पुरुषार्थ करना पड़ता है। परन्तु अपनी विचार-शील प्रकृति के कारण वह मात्र भौतिक उद्देश्यों की सिद्धि करके ही संतुष्ट नहीं हो जाता। नैतिक मूल्यों को महत्त्व देते हुये धार्मिक जीवन व्यतीत करना, पारलौकिक जीवन की ओर दृष्टि निक्षेप कर पारमार्थिक हित के लिये आध्या-त्मिक साधना में संलग्न रहना भी वह श्रेयस्कर समझता है। यह तो एक

---

१ शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।

मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को प्राथमिकता देता है, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि वह मात्र स्वार्थ पूर्ति से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता। मानव जीवन की आर्थिक व्याख्या करने वाले तथा संपूर्ण मानवी प्रवृत्तियों के पीछे भौतिक कारणों की ही तलाश करने वाले कार्ल मार्क्स जैसे चितकों ने भी अपना समग्र जीवन किसानों और मजदूरों के हित साधन में ही व्यतीत किया तथा एक ऐसे दर्शन को जन्म दिया। जिसने मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले अन्य मनुष्य के शोषण के विरुद्ध तीव्र आवाज़ उठाई थी।

आश्रम व्यवस्था के पीछे भी मनुष्य में निहित विद्योपार्जन, धनोपार्जन तथा समाज हित में संलग्न होने की मनोवैज्ञानिक दशायें विद्यमान है। ब्रह्मचर्य काल शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के सन्तुलित विकास का काल है। इस समय छात्र अपने गृह और परिवार से दूर रहकर आचार्य कुल के सुरम्य किन्तु गम्भीर वातावरण में एकनिष्ठतापूर्वक ज्ञानोपार्जन में सलग्न रहता है। पच्चीस वर्ष की इस अवधि में वह विविध ज्ञान-विज्ञानों का पारगामी विद्वान् बनकर अपनी बौद्धिक योग्यता का विकास तो करता ही है साथ ही नैतिक तथा चरित्रगत शिक्षा भी ग्रहण करता है। इस प्रकार विभिन्न योग्यताओं का अर्जन कर वह गृहस्थ जैसे गुरुतर कर्तव्य-भार के वहन का अधिकारी बन जाता हैं। पचास वर्ष पर्यन्त गृहस्थी रहकर मनुष्य अपने लौकिक उत्तरदायित्वों को वहन करता है। इस अवधि में पंच महायज्ञों की साधना के द्वारा वह देवता, पितर, मनुष्येतर प्राणी तथा अतिथियों की पूजा एवं सत्कार करता है। विभिन्न यज्ञों के द्वारा देव ऋण से उऋण होता है, योग्य, प्रतिभाशाली तथा स्वानुरूप सन्तान उत्पन्न कर वह पितृ ऋण चुकाता है तथा अपने संपूर्ण सत्य सामर्थ्य से द्रव्योपार्जन करता हुआ समाज के योग-क्षेम का वहन करता है।

वानप्रस्थी और संन्यासी गण समाज के व्यापक हित तथा लोक मंगल की सिद्धि के लिये समर्पित व्यक्तियों का समूह हैं। सांसारिक इति कर्त्तव्यों को पूरा कर लेने के पश्चात् समष्टि हित के लिये व्यष्टि हित का समर्पण ही सन्यास आश्रम का मुख्य लक्ष्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्ण पर आधारित समाज व्यवस्था एवं आश्रमों मे विभक्त व्यक्तिगत जीवन की यह संरचना आर्य समाज के सामाजिक चिंतन का वह नवनीत हैं जिसे ग्रहण कर न केवल एतद्देशीय नागरिक समाज अपितु संपूर्ण विश्व मानवता संतुलित विकास एवं प्रगति की ओर अग्रसर हो सकती है।

आर्य समाज और नारी जागरण--

वैदिक संस्कृति में अत्यन्त प्राचीन काल से ही नारी को अत्युच्च स्थान प्राप्त रहा है। वेदों में स्त्रियों के लिए अत्यन्त सम्मान पूर्ण शब्द प्रयुक्त हुये हैं। वहां कहा गया है 'शुद्धा पूता यौषितौ यज्ञिया इमा' अर्थात् स्त्रियां शुद्ध, पवित्र और यज्ञ के तुल्य आदरणीय हैं। उस काल में नारी जाति को पुरुष वर्ग के तुल्य ही अधिकार प्राप्त थे। न केवल गार्हस्थ्य क्षेत्र में ही उनकी सत्ता एवं प्रभुता निर्विवाद थी अपितु आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्र में भी उन्नति करने के सभी अवसर उन्हें समान रूप से प्राप्त थे। वसिष्ठ, विश्वामित्र और वामदेव की ही भाँति घोषा, अपाला, लोपामुद्रा, शची इन्द्राणी आदि ऋषि-काओं के नाम भी उल्लिखित हुए हैं जिन्होंने वैदिक मंत्रों में निहित रहस्य का दर्शन किया था। वैदिक कर्मकाण्ड में भी उनका पूर्ण अधिकार स्वीकार किया गया था। 'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ' इस वैदिक प्रमाण के अधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियां सामान्यतया यज्ञों में तो भाग लेती ही थी, ब्रह्मा के पद पर आरुढ़ होकर यज्ञ संचालन का अधिकार भी उन्हें प्राप्त था। युद्ध विद्या से भी स्त्रियाँ पूर्णतया अवगत होती थीं। युद्धों में सम्मिलित होना उनके लिए सहज बात थी। उनकी सन्तानें वीरता का मूलमंत्र माता के स्तन्य पान के साथ ही सीख कर आती थीं। एक वीर माता की गर्वोक्ति इस प्रकार है—'ममपुत्रो शत्रुहणो मम दुहिता विराट्' मेरा पुत्र शत्रुहन्ता है तथा मेरी पुत्री गौरवशालिनी है।

वैदिक काल की नारी विषयक उदात्त धारणायें उपनिषद् युग में भी संक्रमित हुई। उपनिषद् साहित्य में गार्गी तथा मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनी नारियों का उल्लेख मिलता है। ये शास्त्रों की पूर्ण पण्डिता, शास्त्रार्थ विद्या निष्णात् तथा ब्रह्म विद्या की मर्मज्ञा विदुषियां थी, जिनके समक्ष वाद में उस युग के बड़े से बड़े ऋषि भी नही खड़े हो सकते थे। महाराज जनक द्वारा विदेह द्वारा आयोजित ब्रह्म विद्या की प्रसिद्ध गोष्ठी में गार्गी ने ही याज्ञवल्क्य से अनेक मार्मिक प्रश्न पूछकर उसके पारमार्थिक ज्ञान विषयक वैदुष्य की थाह ली थी।

यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि भारत के मध्यकालीन युग में नारी जाति की दशा नितान्त हेय शोचनीय हो गई थी। पौराणिक साहित्य में उसकी महिमा घटी तो संस्कृत के काव्य और नाट्य साहित्य में उसे विलास की वस्तु माना गया। सर्वं खलु इदं ब्रह्म की बात कहने वाले अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठाता शंकराचार्य जैसे महा पुरुष ने भी 'द्वारं किमेकं नरकस्य' तथा

विश्वास पात्रं न किमस्ति जैसे प्रश्नों के उत्तर में 'नारी का ही उल्लेख किया। ऐसा करते समय संभवतः वे उस महामहिमा शालिनी विदुषी भारती को विस्मृत कर गये होंगे जिसने मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ करते समय इन दो प्रतिवादी भयंकरों के वाग्युद्ध की मध्यस्थता की थी। नारी के प्रति अनुदारता प्रदर्शित करने में कोई भी मध्यकालीन धर्माचार्य एक दूसरे के पीछे नहीं है। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि वैष्णवाचार्यों ने नारी को पुरुष की अनुचरी ही माना, सहचरी नहीं। कबीर आदि निर्गुण मतवादी सन्तों तथा तुलसी सूर आदि सगुणवादी भक्तों ने तो नारी जाति के प्रति स्पष्ट अवज्ञा, तिरस्कार एवं अपमान का प्रदर्शन किया जो उनके साहित्य में अभिव्यक्त शतशः वचनों से प्रकट होता है।

वर्तमान युग में स्त्री–जाति के उद्धार और उसके लुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने का श्रेय आर्य समाज के प्रवर्तक ऋषिवर दयानन्द जैसे उदारमना महापुरुष को ही है, जिसने मनु के इन शब्दों में नारी को पूजार्ह ठहराया—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ॥३।५६

मध्ययुगीन आचार्यों ने जहां नारी की प्रगति के मार्ग में आवर्जनाओं और अवरोधों की प्रस्तरशिलायें रक्खीं और 'स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्' जैसे कपोल कल्पित वाक्यों द्वारा उनके वेद पठनाधिकार का हरण किया वहाँ स्वामी दयानन्द में 'यथेमां वाचं कल्याणी मावदीन जनेभ्यः ब्रह्म–राजन्याभ्याम् शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय' [1] जैसे वेद मन्त्र द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि परमात्मा की इस कल्याणी वाणी को पढ़ने का अधिकार स्त्री, शूद्र, चाण्डाल, निषाद तथा अन्य सभी जातियों को है। अथर्ववेद के 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' [2] जैसे मंत्रों के आधार पर उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि 'जैसे ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होकर युवक विदुषी, अपने अनुकूल प्रिय सदृश युवतियों के साथ विवाह करते हैं वैसे कुमारी कन्यायें ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होकर पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय, विद्वान् पूर्ण युवावस्था युक्त पति को प्राप्त होवे। कल्प सूत्रों के प्रमाणों से भी स्वामीजी ने स्त्रियों के वेदपठनाधिकार को सिद्ध किया क्योंकि वहां 'इमं मंत्रं पत्नी पठेत्' जैसे आदेश उपलब्ध होते हैं। यदि कन्या शास्त्रों के पठन में अनभिज्ञ होगी तो वह मंत्रों का सस्वर उच्चारण तथा संस्कृत सम्भाषण कैसे कर सकेगी?

---

१ यजुर्वेद २६।२

२ अथर्ववेद का० ११।सू०५।मं०१८

भारतीय महिलाओं के विगत गौरव को पुनः स्मरण करते हुए स्वामीजी ने लिखा "भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषण रूप गार्गी [1] आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़कर पूर्ण विदुषी हुई थीं। यह शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो तो प्रतिदिन देवासुर सग्राम घर में मचा रहे, फिर सुख कहां . . . . देखो, आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद, युद्ध विद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं। क्योंकि न जानती होती तो कैकेयी आदि दशरथ के साथ युद्ध में क्यों कर जा सकती" [2]।

आर्य समाज ने नारी जाति की विगत महिमा को पुनः प्रतिष्ठित किया। साथ ही उस पर होने वाले अशेष अत्याचारों को अविलम्ब बंद करने के लिये सार्थक प्रयास भी किये। आर्य समाज की यह दृढ़ धारणा थी कि जब तक नारी वर्ग को पुरुष के तुल्य ही शिक्षित एवं संस्कृत नहीं बनाया जायगा तब तक उससे समाज में किसी महत्त्वपूर्ण योगदान करने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। फलतः नारी शिक्षा हेतु उसने अदम्य प्रयास किया। जिस युग में स्त्री शिक्षा की तो बात ही क्या, पुरुषों में शिक्षा के प्रचार के लिये भी किसी संस्था या समाज के आगे आने की हम कल्पना नहीं कर सकते, उसी युग में महिला वर्ग के लिये शिक्षण संस्थायें स्थापित करना और उन्हें गृहों की अभेद्य, दुर्गम काराओं से बाहर निकालकर स्वतंत्रता के उल्लासपूर्ण वायु मण्डल में सांस लेने के लिये कहना सचमुच एक आश्चर्य की बात थी। महिला-मुक्ति का यह वन्दनीय कार्य आर्य समाज ने ही किया। कूपमण्डूक मनोवृत्ति के पुराणपंथियों को महिला उद्धार का यह कार्यक्रम भला क्यों पसन्द आने लगा। आश्चर्य है कि उन्होंने आर्य समाज के उस आदिम युग में स्त्रीशिक्षा के औचित्य को लेकर आर्यसमाजी विद्वानों से शास्त्रार्थ करने का भी दुस्साहस किया। आज के इस अति प्रगतिशील युग में नारीशिक्षा के लिये शास्त्रार्थ की बात नितान्त उपहासास्पद एवं विचित्र सी प्रतीत होती है।

जब भारत का महिला वर्ग शिक्षा के मार्ग पर अग्रसर हुआ तो उसमें उन्नति एवं प्रगति के संस्कार स्वतः ही उद्बुद्ध होने लगे। सुपठित महिलाओं ने शताब्दियों से होने वाले अन्याय एवं अत्याचारों के विरुद्ध आवाज बुलन्द

---

१ द्रष्टव्य शतपथ १४।६।६ गार्गी याज्ञवल्क्य संवाद

२ सत्यार्थप्रकाशः तृतीय समुल्लास

की । बाल विवाह, बहु विवाह, अनमेल विवाह, विधवा विवाह–प्रतिषेध, दहेज आदि समाज को खोखला बना देने वाली रूढ़ियों को उन्मूलित करने के लिये विविध प्रयास किये गये । कानून की सहायता से भी नारी–कल्याण विषयक विविध सुधारों को क्रियान्वित किये जाने का प्रयास हुआ [1] । निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के नवोदय ने नारी जाति के उत्कर्ष: का जो श्लाघनीय प्रयास किया है उसमें दयानन्द एवं आर्य समाज का योगदान ही अभूतपूर्व है । हिन्दी के समर्थ कथाकार स्व० प्रेमचन्द ने अपनी पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी से वार्तालाप के प्रसंग में कहा कि ऋषि दयानन्द ने नारी जाति के उत्थान हेतु जो महान प्रयत्न किये हैं तदर्थ वे महिला वर्ग के सदा वंद्य रहेंगे ।[2] फ्रेंच मनीषी रोमा रोला ने तो स्वामी जी के एतद् विषयक इति कर्त्तव्यों की समीक्षा करते हुए यहां तक लिखा -भारत की स्त्री जाति की पतितावस्था को सुधारने में भी दयानन्द ने बड़ी उदारता और निर्भीकता का परिचय दिया । दयानन्द ने उन बुराइयों के विरुद्ध महती क्रान्ति की जिनसे स्त्रियां पीड़ित थीं । उन्होंने बताया कि स्वर्णिम युग में स्त्रियों को घर और समाज में पुरुषों के समान उच्च स्थान प्राप्त था । उन्हें पुरुषों के सदृश शिक्षित करना चाहिए और गृहस्थ के प्रबंध तथा अर्थ पर उनका ही सर्वोपरि अधिकार रहना चाहिए । दयानन्द ने विवाह में पुरुष और स्त्री के समानाधिकार का प्रतिपादन किया है ।[3]

---

१ आर्य समाज के ही अनुयायी स्व० दी० ब० हरविलास शारदा ने बाल–विवाह का प्रतिषेधक शारदा बिल केन्द्रीय विधायिका सभा से स्वीकार कराया ।

२ प्रेमचन्द : घर में ले श्री मति शिवरानी देवी-सरस्वती प्रेस वाराणसी से प्रकाशित ,

3. *'Dayanand was no less generous and no less bold in his crusade to improve the.condition of women, a deplorable one in india. He revolted against the abuse from which they suffered, recalling that in the heroic age they occupied a posttion at least equal to men. They ought to have equal education, according to him, and supreme control in marriage, over house hold matters including the finances. Dayanand in fact, claimed equal rights in marriage for men and women." The Life of Rama Krishna*

दलितोद्धार और अस्पृश्यता का निवारण--

मानव मात्र की समता का सार्वत्रिक विधान करने वाले पुरातन आर्य समाज मे विषमता के कीटाणुओं का प्रवेश किस प्रकार हुआ, यह एक आश्चर्य जनक तथ्य है। निश्चय ही वेद की उदात्त शिक्षाओं मे मानव मात्र के प्रति प्रेम और मैत्री के भावों का प्रस्फुटन हुआ है। इन्हीं पूत भावनाओं की अभिव्यक्ति उन वेद मंत्रों में हुई है जहां एक आर्य पुरुष देवों (विद्वानों) और राजन्य वर्ग में अपने को स्पृहणीय बनाने की कामना करता है तो साथ ही वैश्य और शूद्र वर्ग का भी प्रिय बनना चाहता है[1]। उसका मैत्री भाव केवल मनुष्य वर्ग तक ही नहीं अपितु समस्त प्राणी वर्ग तक प्रसारित है क्यों कि वह उसी बन्धुत्व भाव की दृष्टि से प्राणीमात्र को देखना चाहता है। जहां तक आर्य समाज का प्रश्न है वहां तो आर्यो को संगठन और एकता के पथ पर आरूढ होने की प्रेरणा सर्वत्र दी गई है। उनके चलने बोलने, खाने पीने में तो संगठन का भाव दृष्टिगोचर होना ही चाहिए[2] उनकी भावनायें और कामनायें मानसिक प्रवृत्तियों और उद्वेलनों में भी एकतानता की कामना की गई है[3]। वस्तुतः वैदिक चिंतन मानव की एकता का सच्चे अर्थो में प्रतिपादन करता है जहां कोई न ज्येष्ठ है और न कनिष्ठ अपितु सभी भाई के तुल्य बराबर है।[4]

निश्चय ही समानता, बन्धुत्व एवं तुल्यता का यह उदारता पूर्ण दृष्टिकोण शताब्दियों पूर्व ही लुप्त हो गया था क्योंकि महाभारत काल की सामाजिक स्थिति में हम विषमता, अनुदारता तथा पारस्परिक घृणा के कीड़ों को बुलबुलाते हुये देखते हैं। यहां सूत पुत्र होने का कारण ही कर्ण जैसे अप्रतिम वीर का अपमान किया जाता है तथा वह क्षत्रिय कुमारों के साथ शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्धा से भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। एकलव्य जैसे शस्त्र विद्या के जिज्ञासु को शूद्र होने के कारण ही अनधिकारी घोषित कर दिया

१　प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
　प्रियं सर्वस्य पश्यत उत् शूद्रे उत् आर्ये ॥

२　संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनासि जानताम्।
　देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ऋग्वेद

३　समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः।
　समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

४　अजेष्ठासो अकनिष्ठासः एते संभ्रात रो वावृधु सौभगाय।

जाता है। महाभारत काल के परवर्ती युग में तो परिस्थियाँ दिन प्रतिदिन बिगड़ती ही गई। बुद्ध और महावीर के द्वारा जिस सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया गया उसमें भी विकृत ब्राह्मण धर्म की उस जुगुप्सा जनक स्थिति का ही विरोध किया गया था, जिसमें तथाकथित उच्च वर्णों को असीम अधिकार प्राप्त थे तो निम्न वर्णों पर किये जाने वाले अन्याय और अत्याचारों की भी कोई सीमा नहीं थी। इसीलिए वैदिक परम्पराओं को अस्वीकार करते हुये बौद्ध और जैन धर्म सामाजिक परिवर्तनों के प्रतीक बन गये। सामाजिक समता का उद्घोष करने वाले तथागत बुद्ध तथा श्रमण महावीर ने ब्राह्मणों की आभिजात्य मनोवृत्ति का उपहास करते हुये द्विज और शूद्र के अन्तर को अस्वीकार किया तथा अपने द्वारा प्रवर्तित श्रमण परम्परा में ब्राह्मणों और शूद्रों को समानाधिकार प्रदान किये। परन्तु शूद्र एवं अन्त्यज वर्ग के प्रति मध्यकालीन दृष्टिकोण में उदारता वादी स्वर हमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

जब निर्गुण भक्ति मार्ग का प्रचलन हुआ तो निम्न वर्णस्थ लोग भी भगवद्भक्त के रूप में सम्मानित हुये परन्तु सामाजिक दृष्टि से उनकी उन्नति नहीं हुई। वैष्णव भक्ति–सम्प्रदायों में तो जन्मना वर्णव्यवस्था को ही स्वीकार किया जाता रहा। सम्प्रदायों के आचार्य पद पर ब्राह्मण ही अधिष्ठित होते थे तथा वे ही सर्व पूज्य माने जाते थे। तुलसीदास जैसे कवियों ने तो 'पूजिउ विप्र सील गुण हीना' कहकर उन मध्यकालीन स्मृति–वाक्यों की ही याद दिलाई है जिनमें यह कहा गया था कि जितेन्द्रिय शूद्र की अपेक्षा पतित द्विज श्रेष्ठ है क्योंकि दूध न देने वाली गाय भी दुग्धवती गधी की अपेक्षा पूज्य होती है[1]।

१९ वीं सदी के सुधार आन्दोलनों में आर्य समाज के पूर्ववर्ती ब्राह्मसमाज ने यद्यपि समाज सुधार की विभिन्न योजनाओं को क्रियान्वित करने का यत्न किया किन्तु जाति प्रथा पर आघात करने की सामर्थ्य ब्राह्म सुधारकों में भी नहीं थी। ब्राह्म समाज के उपासना–स्थल पर वेदपाठी ब्राह्मणों को एक पर्दे के पीछे बिठाया जाता था तथा उसमें अन्य वर्णस्थ लोगों को प्रवेश करने का

---

१ पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः।
निर्दुग्धा चापि गौः पूज्या न च दुग्धवती खरी॥

अधिकार नहीं था [1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि अस्पृश्यता को सर्वथा निर्मूल करने का प्रथम क्रान्तिकारी कार्य आर्य समाज द्वारा ही सम्पन्न हुआ। स्वामी दयानन्द ने शूद्रों को सभी प्रकार के धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार प्रदान किये। सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में शूद्रों के वेदाधिकार का विवेचन करते हुए स्वामी जी लिखते हैं-'क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता ? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने सुनने का शूद्रों के लिये निषेध और द्विजों के लिये विधि करे ? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने सुनाने का न होता, तो उनके शरीर में वाक् और श्रोत इन्द्रिय क्यों रचता ? जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, और अन्नादि पदार्थ सबके लिये बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिये प्रकाशित किये हैं।" स्वामी दयानन्द के इसी उदार दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हुए फ्रेंच लेखक रोमा रोला ने ठीक ही लिखा था कि "भारत में वह एक नवयुग का निर्माण करने वाला दिन था जब एक ब्राह्मण (दयानन्द सरस्वती) ने न केवल यह स्वीकार किया कि सब मनुष्यों को वेदों के अध्ययन का अधिकार (जिसे कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने निषेध कर दिया था) है, प्रत्युत इस बात पर भी उसने बल दिया कि उनका पढना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना भी पत्येक आर्य का मुख्य धर्म है [2]।"

आर्य समाज अपने जन्म-काल से ही अस्पृश्यों एवं दलितों की दशा सुधारने हेतु कृतसंकल्प रहा। आर्य समाज ने इन जातियों के बालकों को अपने द्वारा सचालित गुरुकुलों में प्रवेश देकर विद्याध्ययन का समुचित

---

1. *"The service was in four parts, the chanting of selections from the upanishads in Sanskrit. This was done in a small room curtained off by itself into which only Brahmans were admitted." Modern Religious Movements in India. P. 34. (By J. N. Farquhar.)*

2. *It was in truth an epochmaking date in India, when a Brahmin not only acknowledged that all human beings have the right to know the Vedas, whose study had been previously prohibited by orthodox Brahmins, but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya." The life of Rama Krishna. P. 152.*

अवसर प्रदान किया। आर्य समाजी शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा ग्रहण कर जीवन के विस्तृत क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाले इन अछूत युवकों को देखकर कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि इन स्नातकों का जन्म तथाकथित हीन जातियों में हुआ है। इसी प्रकार दलित जातियों में प्रचलित विभिन्न बुराइयों को दूर करने का भरसक प्रयत्न आर्य समाज ने किया। मदिरापान, मांसाहार, अशिक्षा जैसे अभिशापों से मुक्त कर उन हीन वर्ग के लोगों को वास्तविक अर्थ में आर्य सभ्य और सुशील बनाना ही आर्य समाज का लक्ष्य था। जब अछूतोद्धार के क्रान्तिकारी कार्यक्रम को लेकर आर्य समाज आगे बढ़ा तो पुराणपंथी लोगों ने उसका घोर विरोध किया। प्रगतिशील कार्यक्रमों का विरोध होना स्वाभाविक ही था। परन्तु आर्य समाज अस्पृश्यता निवारण के पुनीत कर्त्तव्य से कभी विमुख नहीं हुआ। आर्य समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द के अस्पृश्यता को दूर करने विषयक किये गए प्रयत्नों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए महात्मा गांधी ने लिखा था—"स्वामी दयानन्द ने हमारे लिये जो मूल्यवान विरासतें छोड़ी हैं उनमें अस्पृश्यता के विरुद्ध उनकी निर्विवाद घोषणा नितान्त महत्त्वपूर्ण है"[1]।

यह सत्य है कि दलितोद्धार का यह कार्यक्रम कालान्तर में महात्मा गांधी का संरक्षण तथा कांग्रेस का बल प्राप्त कर एक नई दिशा प्राप्त कर सका। फलत: देश के स्वाधीन हो जाने पर अस्पृश्यता को कानूनन अपराध मान लिया गया और आज की नई पीढ़ी को तो संभवत: यह पता ही नहीं चलने दिया जाता कि इस क्षेत्र में आर्य समाज ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। राजनैतिक नेता ही इस सुधार का सारा श्रेय लेने लग गये हैं। आज अनुसूचित जातियों के संरक्षण के नाम पर उन्हें जो सुविधायें दी जा रही हैं तथा चुनावों में इन वर्गों के मत प्राप्त करने के लिये उन्हें उसी रूप में रखने की जो चेष्टायें हो रही हैं उसे देखते हुए बहुत कम लोग इस बात को समझ पायेंगे कि आर्य समाज ने इन्हीं भंगी, चमार आदि अन्त्यज जातियों को सामाजिक तथा शैक्षिक उन्नति करने के बराबरी के अवसर प्रदान किये थे। आर्य समाज की गुरुकुल जैसी शिक्षण संस्थाओं में सैकड़ों दलित वर्ग के युवकों ने

---

1. *"Among the many rich legacies that Swami Dayan nd has left to us, his unequivocal pronouncement againsi untouchability is undoubtedly one" Dayanand commemoration Volume. P. 1.*

उच्च धार्मिक तथा शास्त्रीय-शिक्षा ग्रहण की, द्विजों की भांति पण्डित और पुरोहित बने तथा शिक्षा एवं संस्कार से अपने को उन्नत बनाकर बृहत्तर आर्य (हिन्दू) समाज में अपने को पूर्णतया एकाकार कर लिया।

कुरीति निवारण-

आर्य समाज की लोकप्रियता तथा उत्तर-भारतीय जन-समाज में उसके व्यापक प्रभाव का एक प्रमुख कारण यह रहा कि उसने विभिन्न सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन में विगत एक शताब्दी में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उसने मदिरा-पान का दृढता से विरोध किया। स्थान--स्थान पर नशा-निवारिणी समितियां स्थापित कीं। केवल मदिरा ही नहीं, अपितु भांग, गाँजा चरस यहां तक कि तम्बाकू सेवन जैसे स्वास्थ्य विनाशक व्यसन का भी उसने विरोध किया। आर्य समाज के सम्पर्क में आने से व्यसन त्याग कर प्रत्यक्ष लाभ ऐसे पुरुषों को होता था जो मादक द्रव्यों का सेवन कर अपने धन एवं शरीर को विनष्ट करने में संकोच नहीं करते थे।

इसी प्रकार दहेज, पर्दा आदि समाज को घुन की तरह नष्ट करने वाली शतशः बुराइयों को दूर करने के लिए आर्य समाज सदा से कटिबद्ध रहा। अंध विश्वासों के जाल में जकड़े हिन्दू समाज को भूत प्रेत, ओझाओं की झाड़ फूंक, ज्योतिष की मिथ्या धारणाओं आदि से मुक्त करने में भी वह अग्रगण्य रहा। निश्चय ही समाज का संपूर्णतया कायाकल्प कर उसे समग्र रूपेण स्वस्थ, सबल एवं प्राणवान बनाना ही आर्य समाज का लक्ष्य था। यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये कि सामाजिक क्रान्ति का जो शंखनाद सौ वर्ष पूर्व आर्य समाज ने किया था उसे बहरे कानों नहीं सुना गया। गत शताब्दी में अछूतोद्धार तथा नारी शिक्षा के लिए जहां आर्य समाज को शास्त्रार्थ करने पड़ते थे, आज वही कार्य स्वयमेव हो रहा है। फिर हम समाज सुधार के कार्य में आर्य समाज के महत्वपूर्ण योगदान की अवगणना तथा अवमूल्यन कैसे कर सकते हैं ?

००——००

अध्याय ५

आर्य समाज और आर्थिक क्रान्ति

सामान्यतया यह समझा जाता है कि एक धार्मिक आन्दोलन होने के कारण आर्य समाज का कोई आर्थिक मन्तव्य तथा सुनिश्चित आर्थिक दृष्टि-कोण नहीं है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। मानव समाज की सर्वतोमुखी उन्नति का लक्ष्य लेकर चलने वाला यह आन्दोलन आर्थिक विषमता तथा उससे उत्पन्न होने वाली दुखद परिस्थितियों से सदा अपने आपको अवगत रखता रहा। यदि दयानन्द वाङ्मय का सम्यक् अवगाहन कर उसमें यत्र तत्र विद्य-मान आर्थिक नीतियों का सग्रह किया जाय यह तो विदित होगा कि स्वामी जी देश की आर्थिक दुरवस्था के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। उनके हृदय में साधा-रण जनता के भौतिक कष्ट अत्यन्त पीड़ा उत्पन्न करते थे। जिस दयानन्द ने तीव्र वैराग्य की भावना के वशीभूत होकर अपने सम्पन्न परिवार तथा प्रिय परि-जनों को भी त्याग दिया वही निर्धन अनाथों तथा सम्बलहीन विधवाओं की की करुण पुकार तथा हाहाकार पूर्ण चीत्कार को सुनकर अत्यन्त व्याकुलता का अनुभव करता था। निश्चय ही संन्यासी होकर भी दयानन्द ने केवल अपने पारमार्थिक शिक्षण को ही सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान नहीं की, अपितु लोकहित तथा जन कल्याण की व्यापक सिद्धि के लिये अपने समाधि के सुख का भी परित्याग किया। यद्यपि स्वामीजी के जीवन में घटित बहुविध घटनाओं के आधार पर उनके आर्थिक विचारों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है, परन्तु अपने ग्रन्थों में भी उन्होने देश की आर्थिक समस्याओं के निवारण के लिए जो विभिन्न उपाय प्रस्तुत किये है उनके आधार पर स्वामी जी के आर्थिक चिंतन का स्वरूप स्पष्ट होता है।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम सस्करण में स्वामी जी ने ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाये गये अनुचित करों की तीव्र आलोचना की थी। नमक जैसा सामान्य उपयोग में आने वाली वस्तु के उत्पादन पर शुल्क लगाकर अंग्रेजी शासन ने गरीबों पर जो अत्याचार किया था, उसे उन्होंने अनुभव किया। नमक कर की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा-"एक तो यह बात है कि नोन और पौन रोटी में जो कर लिया जाता है वह मुझ को अच्छा नहीं मालूम देता। क्योंकि नोन के विना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं होता, किन्तु सबको नोन का आवश्यक होता है और वे मजूरी मेहनत से जैसे तैसे निर्वाह करते हैं उनके ऊपर भी

यह नोन का (कर) दण्ड तुल्य रहता है । गाँजा, भांग इनके ऊपर दुगुना चौगुना कर स्थापन होगा तो अच्छी बात है और लवणादि के ऊपर नहीं होना चाहिए [१] ।" यहां यह स्मरणीय है कि १९३० ई० में महात्मा गांधी ने भी नमक कर का विरोध करते हुए नमक बनाने के अधिकार के रूप में सत्याग्रह किया था । स्वामी जी की एतद् विषयक दूरदर्शिता तथा अग्रगामिनी दृष्टि श्लाघनीय मानी जायगी ।

सरकारी कचहरियों में स्टाम्प ड्यूटी के बढ़ जाने से भी साधारण लोगों को कष्ट होता हैं । स्वामी जी ने यह अनुभव किया था । सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में वे लिखते हैं—"सरकार कागद (स्टाम्प) बेचती है । और बहुत सा कागजों पर धन बढ़ा दिया है इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुंचता है । सो यह बात राजा को करनी उचित नहीं क्योंकि इसके होने से बहुत गरीब लोग दुःख पाकर बैठे रहते हैं । कचहरी में बिना धन के कोई बात होती नहीं । इससे कागजों के ऊपर जो बहुत धन लगाना है सो मुझ को अच्छा मालूम नहीं देता । इसको छोड़ने से ही प्रजा में आनन्द होता है ।[२] इस उद्धरण से यह स्पष्ट है ब्रिटिश न्यायालयों में गरीब लोगों को न्याय प्राप्त करने में कितनी कठिनाइयां आती थीं, स्वामी जी को इसका स्पष्ट ज्ञान था । यह स्मरणीय है कि महर्षि के समकालीन हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी कर भार से पीड़ित भारतीय प्रजा के दुखों की ओर जन साधारण का ध्यान आकृष्ट किया था ,

कराधान के सम्बन्ध में स्वामी जी प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में प्रतिपादित नीति का ही अनुमोदन करते हैं । उन्होंने मनुस्मृति के प्रमाण से लिखा है कि जिस जोंक, बछड़ा और भंवरा थोड़े थोड़े भोज्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं वैसे राजा प्रजा से थोड़ा थोड़ा कर लेवें [३]। उनकी यह निश्चित धारणा थी कि

---

१ सत्यार्थप्रकाश (प्र०सं०) पृ० ३८४

२ वही, पृ० ३८७

३ यथाल्पाऽल्प मन्दत्याऽऽद्य वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाऽल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥ मनुस्मृति ७।१२९

राष्ट्र की आर्थिक सुदृढता कृषि कर्म पर निर्भर है। अत: उन्होंने किसानों को ही राजाओं का राजा कहा तथा उनके योग-क्षेम का वहन करने के लिये राजाओं को प्रेरणा दी[४]।

देश की आर्थिक समृद्धि के लिये स्वामी दयानन्द ने गौरक्षा के महत्त्व को भी निर्विवाद रूप से स्वीकार किया था। उनकी यह स्पष्ट धारणा थी कि दूध देने वाले गौ आदि पशुओं का क्रूर वध देश की आर्थिक अवस्था को विनष्ट करने वाला है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में गाय, बैल आदि की उपयोगिता सर्व विदित है। उन्होंने गौरक्षा के प्रश्न को विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से देखा था। उनका दृष्टिकोण पूर्णतया उपयोगितावादी था। गोवध निवारण के लिये उन्होंने अपने जीवन काल में जो प्रयत्न किये वे सर्वविदित हैं। उन्होंने सरकारी अधिकारियों से समय समय पर भेंट कर उन्हें गोवध बंद कराने की प्रेरणा दी। परन्तु वे यह भी जानते थे कि केवल शासकों के समक्ष प्रार्थना और निवेदन करना ही पर्याप्त नहीं है। शासकों को लोकोपयोगी कार्य करने हेतु बाध्य करने में जनमत की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। अत: स्वामीजी ने गौरक्षा के महत्त्व को सर्वत्र प्रचारित करने का यत्न किया इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उन्होंने 'गोकरुणा निधि' नामक एक लघु ग्रन्थ की रचना की। इस पुस्तक के तीन खण्ड हैं। प्रथम समीक्षा प्रकरण में युक्ति एवं तर्क पूर्ण ढंग से गौरक्षा के महत्त्व का विवेचन किया गया है। यहां उन्होंने गणित की रीति से सिद्ध किया कि एक गाय की रक्षा से ही असंख्य लोगों को लाभ पहुँचता है जबकि उसके मांस से कुछ ही लोगों की क्षुधा निवृत्ति होती है। हिंसक रक्षक संवाद के अन्तर्गत मांस भक्षियों के विभिन्न तर्कों का खण्डन किया गया है। इस विवेचन के अन्त में लेखक अत्यन्त भावुक होकर परमात्मा से गो आदि मूक पशुओं की रक्षा के लिये प्रार्थना करते हुए लिखता है—'हे महाराजाधिराज जगदीश्वर' जो इनको कोई न बचावे तो आप इनकी रक्षा करने और हमसे कराने में शीघ्र उद्यत हूजिये।'

स्वामीजी अनुभव करते थे कि गौरक्षा के प्रश्न को विशुद्ध आर्थिक कसौटी पर ही कसा जाना चाहिये। यदि इसे एक धार्मिक प्रश्न का रूप दे

---

४ "राजाओं का राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है, जो प्रजा का न हो तो राजा किसका"?

सत्यार्थप्रकाश : षष्ठ समुल्लास

दिया जाता है तो हिन्दुओं से इतर मुसलमान एवं ईसाई आदि अन्य मतावलम्बियों की इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के प्रति कोई सहानुभूति नहीं रहेगी। वे तो यह मानते थे कि गो आदि पशुओं के नाश से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है [1]। इसी प्रकार स्वामीजी तो गायों के ही तुल्य भैंस, बकरी आदि दुधारु पशुओं की भी उपयोगिता स्वीकार करते थे और यह भी मानते थे कि सुअर, कुत्ता, मुर्गा, मुर्गी और मोर आदि पशु पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं, परन्तु वे यह भी जानते थे कि सबका पालन उत्तरोत्तर समयानुकूल होगा, वर्तमान में परोपकारक गौ की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है। वे यह भी मानते थे कि गो रक्षा के लिए सुसंगठित प्रयत्न आवश्यक है। फलतः उन्होंने गोकृष्यादिरक्षिणी सभायें स्थापित करने की प्रेरणा दी तथा उसके नियमों का संकलन इसी पुस्तक के तृतीय खण्ड में किया।

लोकमत की शक्ति को स्वामी जी भलीभांति समझते थे। यदि करोड़ों की संख्या में भारतवासी एक प्रार्थना-पत्र पर हस्ताक्षर कर तत्कालीन शासकों को प्रेषित करें तो सम्भवतः उनकी फरियाद की सुनवाई हो और प्रबल जनमत को देखते हुए गोवध पर प्रतिबन्ध लगाया जा सके, इस विचार को क्रियान्वित करने के लिए स्वामी जी ने एक आवेदन पत्र तयार कर उस पर देशवासियों के हस्ताक्षर कराने का अभियान चलाया। लाखों करोड़ों हस्ताक्षर कराये भी गये परन्तु इससे पूर्व कि यह आवेदन पत्र ब्रिटिश सम्राज्ञी को प्रेषित किया जाता, स्वामी जी का निधन हो गया और उन्हें अपने संकल्प की पूर्ति में सफलता नहीं मिली। गोरक्षा का उपयोगी प्रश्न पर्याप्त समय के लिये पिछड़ गया।

गौरक्षा के द्वारा आर्थिक समृद्धि सुनिश्चित है, इस तथ्य को आर्यसमाज ने अपने दृष्टिपथ से कभी ओझल नहीं होने दिया। उसने समय समय पर प्रबल आन्दोलनों का संचालन कर शासकों को गोवध बंद करने का आग्रह किया। विदेशी शासकों से तो यह अपेक्षा नहीं थी कि वे भारतीय आर्य प्रजा की भावनाओं का ध्यान रखकर गोवध पर प्रतिबन्ध लगा देते। परन्तु आर्य समाज को उस समय बड़ी निराशा हुई जब उसने देखा कि स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् भी भारतीय प्रशासकों ने गोवध निराकरण के लिए कोई वैधानिक कार्यवाही नहीं की है और न ऐसा करने का ही उनका विचार है। यद्यपि

---

1 गो करुणा निधि

भारतीय संविधान में गौ आदि दुधारू एवं उपयोगी पशुओं के संरक्षण का पूर्ण प्रावधान है परन्तु किन्हीं पूर्व ग्रहों के कारण अब तक सरकार इस सम्बन्ध में कुछ भी करने में अकृतकार्य रही है। आर्य समाज ऐसी स्थिति में मौन रह कर कृषि प्रधान देश की आधार भूमि के तुल्य गौ जाति का ह्रास देखता रहता, यह सर्वथा अकल्पनीय था। उसने यदा कदा गौरक्षा के समर्थन में भारतीय जनता के प्रबल मत को जागृत करने का तो प्रयास किया ही समय समय पर शासकों को अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक होकर गौ जाति के विनाश को रोकने की प्रेरणा भी दी। १९५४ई० में देश के लाखों नागरिकों से गौरक्षा हेतु प्रतिज्ञा पत्र भरवाकर राष्ट्रपति को अर्पित किये गये। पुनः १९६६ ई० में सनातन धर्मी नेता स्वामी निरंजनदेव तीर्थ के नेतृत्व में जब एक सार्वदेशिक गौरक्षा आन्दोलन संचालित किया गया तो आर्य समाज ने उसमें भी अपना पूर्ण योगदान दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गौरक्षा जैसे आर्थिक प्रश्न पर आर्य समाज ने सदा ही रचनात्मक दृष्टिकोण रखखा तथा उसकी उपयोगिता एवं महत्ता को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। यदि देश के वर्तमान शासक इस प्रश्न को संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि से नहीं देखते और उनमें अन्य मतावलम्बियों के अनुचित तुष्टिकरण की नीति नहीं होती तो अनायास ही गौवध पर प्रतिबंध लगाया जा सकता था। अब तो यह प्रश्न केवल आर्य समाज का न रहकर संपूर्ण विचारशील नागरिकों के लिये एक आर्थिक चुनौति के रूप में है। इसे विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से ही देखा जाना चाहिये तभी यह संभव है कि देश के संविधान के आशय के अनुसार गौवध पर रोक लगाई जा सके।

स्वामी दयानन्द जिस युग में उत्पन्न हुये थे उसमें यूरोप एवं अन्य पश्चिमी देशवैज्ञानिक एवं औद्योगिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे थे। औद्योगिक क्रान्ति ने जिस प्रकार पश्चिमी जीवन को प्रभावित किया तथा रेल, तार, डाक के वैज्ञानिक आविष्कारों ने जन साधारण के जीवन में जो परिवर्तन उपस्थित किया वह मानव सभ्यता के लिये एक अभूतपूर्व अनुभव था। भारत राजनैतिक दृष्टि से पराधीन था, परन्तु उसका आर्थिक विकास भी परकियों की दासता के कारण सर्वथा अवरुद्ध हो रहा था। स्वामी दयानन्द ने यह अनुभव किया कि यदि इस देश के कुछ नवयुवकों को जर्मनी में कला कौशल एवं उद्योग सीखने के लिए भेजा जाय तथा वहां से वे इन विद्याओं में पूर्णतया पारंगत होकर लौटे, पुनः इस देश में उन उद्योगों का प्रसार करें तो निश्चय ही देश

आर्थिक दृष्टि से उन्नत हो सकेगा। इस योजना के क्रियान्वयन हेतु उन्होंने जर्मनी के प्रो० जी० वाइज से पत्र व्यवहार भी किया था।[1]

पश्चिमी ढंग के कला कौशल एवं उद्योगों को उन्नति प्रदान करने के समर्थक होते हुए भी स्वामी जी स्वदेशी उद्योग धन्धों एवं कला व्यवसाय को भी संरक्षण प्रदान करने के इच्छुक थे। उन्होंने अपने अनुयायियों को स्वदेशी वस्तुओं एवं वस्त्रों के उपयोग की प्रेरणा दी। राष्ट्रीय स्वाभिमान का आग्रह था कि स्वदेश निर्मित वस्तुओं के प्रयोग को अभिवृद्ध किया जाता। आर्य समाज ने इसी नीति को अंगीकार किया। उसके द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं में विविध उद्योगों की शिक्षा का पूर्ण प्रावधान था। निश्चय ही एक धर्मान्दोलन होते हुए भी अपने सर्वांगीण चिन्तन के फलस्वरूप आर्य समाज ने आर्थिक परिस्थितियों पर अपना सुचिन्तित दृष्टिकोण सदा ही प्रकट किया है।

---

१ द्रष्टव्य–ऋषि दयानन्द सरस्वती का पत्र व्यवहार

अध्याय ६

आर्य समाज और राष्ट्रीयता

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द अपने समकालीन तथा समधर्मी महापुरुषों से अनेक बातों में पूर्णतया भिन्न थे। उच्च कोटि के संस्कृतज्ञ विद्वान सर्वसंगपरित्यागी परिव्राजक, महान धर्म संशोधक और क्रान्तिकारी समाज सुधारक होने के साथ साथ उनमें अपने राष्ट्र के प्रति अगाध निष्ठा एवं भक्ति भी थी। यही कारण है कि वे अपने से पूर्ववर्ती शंकर, रामानुज आदि उन महान दार्शनिकों से भी भिन्न हैं जिन्होंने दर्शन एवं चिंतन के क्षेत्र में तो महत्वपूर्ण योगदान दिया परन्तु जिनकी राजनैतिक दृष्टि लगभग शून्य के बराबर थी। इसी प्रकार अपने युग के देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशव चन्द्र सैन तथा रामकृष्ण परमहंस आदि नव जागरण के उद्घोषकों से भी दयानन्द भिन्न ही हैं। इस अर्थ में कि जहां दयानन्द ने देश की राजनैतिक दशा पर अपने विचार स्पष्टतया व्यक्त किये वहां उपर्युक्त महापुरुषों की राजनीति निरपेक्ष दृष्टि के कारण उनके द्वारा राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में कुछ भी योगदान नहीं हो सका।

दयानन्द मूलतः राष्ट्रवादी थे। उनके राष्ट्रीय भाव की प्रशंसा करते हुये योगी अरविन्द ने लिखा—He had the national instinct and he was able to make it luminous" अर्थात् दयानन्द में राष्ट्रीय भावना थी और वे उसे उद्दीप्त कर सके थे। फ्रेंच विद्वान रोमां रोलां का भी यह दृढ विश्वास था कि दयानन्द भारत के पुनर्जागरण का अग्रदूत था और उसने भारत की राष्ट्रीय चेतना को जगाने में अद्भुत कार्य किया। होम रूल आन्दोलन की प्रसिद्ध नेत्री श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने तो यहां तक लिख दिया है कि ऋषि दयानन्द ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत भारतवासियों के लिये उद्घोष किया।

दयानन्द ने १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वराज्य की कल्पना उस समय की जब राष्ट्रीय संस्था अखिल भारतीय नेशनल कांग्रेस का जन्म भी नहीं हुआ था। १६०६ ई० में सर्वप्रथम दादाभाई नौरोजी ने 'स्वराज्य' शब्द का उच्चारण किया। १६१६ की लखनऊ कांग्रेस में लोकमान्य तिलक ने "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" इस मंत्र की घोषणा की परन्तु बाद में

१६२६ ई० में लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य को अपना ध्येय बनाया। परन्तु स्वामी दयानन्द ने इससे बहुत पूर्व ही स्वराज्य की आवश्यकता तथा महत्ता का जय गान किया था। सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने स्वराज्य के सम्बन्ध में अपना निम्न अमर वाक्य लिखा कोई कितना ही करे किन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत मतान्तर के आग्रह रहित अपने पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर माता पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं होता [1] यहां यह द्रष्टव्य है कि स्वामी जी का उक्त कथन परकीय अंग्रेजी राज्य के संदर्भ में कितना सटीक था। १८५८ ई० में विद्रोह की अग्नि बुझ जाने के पश्चात् जब महारानी विक्टोरिया ने भारतीय प्रजा के नाम अपना घोषणा-पत्र प्रकाशित किया तो उसमें यह अभिप्राय प्रकट किया गया था कि ब्रिटिश राज्य में धार्मिक पक्षपात लेश मात्र भी नहीं होगा तथा सम्राज्ञी अपनी प्रजा पर पूर्ण वात्सल्य, न्याय तथा दया का प्रदर्शन करते हुये ही शासन करेगी। परन्तु स्वामी जी अंग्रेज महारानी के इस आश्वासन से सन्तुष्ट नहीं है। वे बहुविध गुणों से युक्त परकीय शासन को स्वराज्य की तुलना में स्वल्प महत्व भी नहीं देते। यही उनकी क्रान्तदर्शी राष्ट्रीयता है।

इसी महापुरुष ने सर्वप्रथम वेद मंत्रों में स्वराज्य और राष्ट्रीय भावना का दर्शन किया। अपने सुप्रसिद्ध प्रार्थना परक ग्रन्थ आर्याभिविनय में वे लिखते हैं अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों। अन्यत्र ऋग्वेद के एक मंत्र की व्याख्या में स्वामी जी ने परमात्मा को 'महाराजाधिराज कह कर सम्बोधन किया तथा उससे सद्यः साम्राज्याधिकार की याचना की है। अपने व्याख्यानों में भी यदा कदा स्वामी दयानन्द देश की दुरवस्था का वर्णन करते हुए स्वदेशी राज्य का गौरव-गान करना नहीं भूलते थे। उनके एक व्याख्यान में इसी प्रकार के विचारों को सुनकर एक अंग्रेज कलेक्टर ने कहा था कि यदि आपके भाषण के अनुसार लोग चलने लग जायें तो हमें अपना बोरिया बिस्तर समेटना पड़ेगा। स्मरणीय है कि १६४२ ई० में महात्मा गांधी ने अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए कहा था।

---

१ सत्यार्थप्रकाश : अष्टम समुल्लास

यहां एक और बात पर विचार कर लेना भी अप्रासंगिक न होगा। क्या दयानन्द के राष्ट्रीयता प्रेरक विचार पश्चिम की देन हैं ? सामान्यतया यह समझा जाता है कि भारतीयों में राष्ट्रीयता का बीज वपन पश्चिमी शिक्षा के कारण हुआ। जब १९ वीं शताब्दी में पश्चिमी जातियों का भारत में आगमन हुआ तथा एतद्देशीय लोग उनके सम्पर्क में आये तो स्वतन्त्रता, एकता तथा बन्धुत्व भाव के विचार भी उनमें इसी विदेशी सम्पर्क के कारण प्रसरित होने लगे। एक सीमा तक यह कथन सत्य हो सकता है। राजनीति-विज्ञान की परिभाषा में जिसे राष्ट्रवाद (Narionlism) कहा जाता है, वह यूरोपीय चिंतन का ही परिणाम हैं, यह सामान्य धारणा है। परन्तु दयानन्द की राष्ट्रीयता के लिये यह कथन उपर्युक्त नहीं है। वस्तुत: उन्होंने अपनी अन्त:प्रज्ञा के बल पर ही भारत की राजनैतिक दशा का चिंतन किया था। देश की मुक्ति के लिये जो सिद्धान्त उन्होंने निर्धारित किये वे भी प्राचीन वाङ्मय में विद्यमान तत्वों से ही पुष्पित एवं पल्लवित हुये थे। इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो दयानन्द अपने समकालीन तथा पश्चात्वर्ती सभी राजनीतिज्ञों को पीछे छोड़ते हुये प्रतीत होते हैं। हम यह जानते हैं कि भारतीय राष्ट्रीयता के अन्यतम उपासक महात्मा गांधी ने भी अपने सर्वोदय विषयक विचारों के लिये अंग्रेजी चिंतन जांन रस्किन [१] तथा रूसी लेखक लियो तालसताय का ऋण स्वीकार किया है। पश्चिमी चिन्तन का प्रभाव राम मोहन राय से लेकर रवीन्द्रनाथ तक सभी पुनर्जागरण के नेताओं पर न्यूनाधिक रूप से दृष्टिगोचर होता हैं। केवल दयानन्द ही वह महाप्राण व्यक्ति है जिसने अपने सभी विचारों और क्रान्तिकारिणी प्रवृत्तियों के लिये प्राचीन शास्त्रों से प्रभाव ग्रहण किया था। उनके प्रेरणा स्रोत वेद के वे महनीय सूक्त हैं जिनमें स्वराज्यार्चन के शतश: मंत्र भरे पड़े हैं। उन्होंने अपने राजनीतिक चिंतन के लिये रूसो और वाल्तेयर को प्रेरणास्रोत नहीं बनाया। वे मनु और शुक्राचार्य, विदुर और चाणक्य की कृतियों में वैदिक राजनीति का उत्कृष्ट विवेचन देखते हैं।

अपनी रत्नगर्भा मातृभूमि के प्रति दयानन्द के हृदय में कितना सम्मान का भाव था यह उनके निम्न शब्दों से ज्ञात होता है 'यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है, इसलिये इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि हैं, क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है इसीलिये

---

१ रकिस्न की पुस्तक 'unto the Last, महात्मा गांधी के सर्वोदय विषयक विचारों का प्रेरणा स्रोत थी।

सृष्टि की आदि में आर्य लोग इसी देश में आकर बसे जितने भूगोल में देश हैं वे सब इसी देश की प्रशंसा करते हैं और आशा रखते हैं भारत-मणि पत्थर सुना जाता है वह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारस मणि है कि जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं[१]। इसी भारतभूमि की वर्तमान अधोगति को देखकर ऋषि दयानन्द का हृदय रो उठा तथा उनके उत्पीड़ित हृदय से निम्न शोकोद्गार निकले अब अभाग्योदय से आर्यों के आलस्य प्रमाद परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतत्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है।[२] 'पराधीनता के कारणों की चर्चा करते हुये वे लिखते हैं-' जब आपस में भाई भाई लड़ते हैं तो तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता हैं। आपस की फूट से कौरव पाण्डवों का सत्यानाश हो गया परन्तु अभी तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा या आर्यों को सब सुखों से छुड़ा कर दुख सागर में डुबा मारेगा। उसी दुष्ट गोत्र-हत्यारे स्वदेश विनाशक नीच के दुष्ट मार्ग में आर्य लोग अब तक चल रहे हैं। परमात्मा करे कि यह राज रोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय। "देश की सर्वतोमुखी दुर्दशा को देखकर वीतराग संन्यासी के हृदय से निकलने वाला यह करुण क्रन्दन है।

दयानन्द की स्वराज्य भावना और राष्ट्रीय चिन्तन का विस्तृत ऊहापोह उनके ग्रन्थों में अभिव्यक्त विचारों के साथ किया जा सकता है। यहां एक प्रश्न और उत्पन्न होता है। क्या एक ओर आर्य समाज जैसे सर्वयुगीन और सार्वभौम मानव हितकारी आन्दोलन की स्थापना कर तथा दूसरी ओर अपने अनुयायियों को स्वराज्यार्चन तथा राष्ट्र भक्ति का पाठ पढ़ाकर आर्यसमाज के प्रवर्तक ने क्या परस्पर विरोधी बात नहीं कही ? यह सत्य है कि दयानन्द की शिक्षाओं में राष्ट्रवाद की विचारधारा सूत्र में मणिवत् ओत प्रोत है, परन्तु उसका आर्य समाज के मानववादी दृष्टिकोण से कोई विरोध नहीं हैं। दयानन्द का राष्ट्रवाद उस फासिस्ट राष्टवादी समाजवाद (National Socialism)

---

१ सत्यार्थ प्रकाश: एकादश: समुष्लास

२ वही—अष्टम समुल्लास

का पर्याय या स्थानापन्न नहीं है जो My country-right or wrong में विश्वास करता है। इसके विपरीत दयानन्द का राष्ट्रवाद उस चक्रवर्ती आर्य साम्राज्यवाद के सिद्धान्त को मूर्तिमान करने का एक सोपान मात्र है जिसके लिये ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है "साम्राज्यं भौज्यं स्वराज्यं पारमेष्ठय राज्यं महाराज्य माधिपत्यमयं समन्त पर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वभुप परार्द्धान पृथिव्ये समुद्रपर्यन्ताया एक राड्यिति। चक्रवर्ती आर्य नरेश समुद्र पर्यन्त जिस एक राष्ट्र साम्राज्य की स्थापना करते हैं वही दयानन्द का आदर्श था उसमें न तो एकतंत्री शासन की स्वेच्छाचारिता थी और न आधुनिक प्रजातंत्र प्रणाली का मूढ़जन विश्वास। सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में मनुस्मृति के आधार पर दयानन्द ने इसी राजनीति और शासन प्रणाली के सर्वागम सूत्रों को ग्रथित किया है। अपने विवेचन के अन्त में उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह राज धर्म का संक्षिप्त वर्णन ही है। विस्तार से जानने के लिये वे शुक्रनीति विदुरनीति, महाभारत के शान्ति पर्वान्तर्गत राजधर्म एवं आपद्धर्म के प्रकरणों को पढ़ने की संस्तुति में करते हैं।

दयानन्द के उग्र एवं प्रखर राष्ट्रवाद को देखकर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वे प्रत्येक स्वदेशी वस्तु का पक्षपात करते थे अथवा उनका स्वदेश प्रेम किसी अंध विश्वास पर आधारित था। वे मूलतः मानवतावादी थे। अतः अन्य मतों एवं विश्वासों की विकृतियों की जैसी कटु समीक्षा उन्होंने की उसी प्रकार एतद्देशीय मतों और सम्प्रदायों की भी आलोचना करने में उन्हें संकोच नहीं हुआ।सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में वे लिखते हैं 'यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूं तथापि जैसे इस देश के मत मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथा तथ्य प्रकाश करता हूं वैसा ही दूसरे देशस्थ व मतोन्नति वालों के साथ वर्तता हूं, जैसा स्वदेश वालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्तता हूं वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को वर्तना योग्य है क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते और दूसरे मत की निंदा, हानि और बंद करने में तत्पर होते हैं वैसे ही मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन के बाहर है अतः यह कहना कोई अर्थ नहीं रखता कि दयानन्द ने राष्ट्रीयता के अंधे जोश में आकर अपने देश की अच्छी बुरी बातों का समर्थन किया और भावुकता के वशीभूत होकर वे स्वदेश को विश्व राष्ट्रों में सर्वश्रेष्ठ घोषित करते हैं।वस्तुतः दयानन्द के राष्ट्रकीर्तन के पश्चात् तो स्वदेश की गौरव गरिमा का गान सभी देशवासियों ने समवेत स्वर से किया और यही दयानन्द की क्रान्ति-दर्शिता का प्रोज्ज्वल प्रमाण है।

दयानन्द ने केवल सैद्धान्तिक आधार पर ही राष्ट्रीयता का विवेचन नहीं किया अपितु वे अपने सम्पूर्ण जीवन में उसका सर्वत्र प्रचार भी करते रहे। उनके व्याख्यानों और प्रवचनों में देश की अधोगति का जीवन्त चित्र होता था। वे देशवासियों को अपने कर्त्तव्य पालन में तत्पर होकर राष्ट्रीय उत्थान हेतु कृत संकल्प होने की प्रेरणा देते थे। अंग्रेज जाति की स्वातंत्र्य चेतना का यदा कदा उल्लेख कर वे भारतवासियों को भी स्वदेश के प्रति गौरव के भाव अनुभव करने के लिये कहते थे। स्वामी जी के जीवनी लेखक पीयूष वर्षी स्वामी सत्यानन्द ने एक स्थान पर लिखा है -वे देश और जाति की उन्नति के विषय में ओजस्विनी भाषामें प्रभावशाली भाषण दिया करते थे। उनके भाषणों को सुनकर श्रोताओं में उष्मा भर जाती थी, उनका साहस बढ़ जाता था, उत्साह उमड़ जाता था, हृदय उछलने लगता था, अंग फड़क उठते थे और जातीय जीवन का रक्त खोलने लगता था, किन्तु किसी मनुष्य या जाति के लिए मन में घृणा और द्वेष उत्पन्न नहीं होता था। उनकी उदात्त नीतिमत्ता और राष्ट्र सुधार के विचार सिद्धान्त रूप में प्रकाशित होते थे। महाराज ने स्वराज्य और स्वतंत्र शासन के सार मर्म के कुछ एक सूत्र और अति स्पष्ट सूत्र सत्यार्थ प्रकाश में उस समय लिखे थे जब यहाँ जातीय महासभा कांग्रेस का जातकर्म भी नहीं हुआ था और शासन सुधारवादियों ने स्वराज्य का अभी स्वप्न भी नहीं देखा था[1]।

राष्ट्रीयता का यही आदर्श दयानन्द के अनुयायियों में भी संक्रमित हुआ। आर्य समाज ने अपने जन्म काल से ही देश को स्वाधीन बनाने के कार्यों में सम्पूर्ण सहयोग प्रदान किया। राष्ट्रीयता का मूलमंत्र मानों आर्य समाजियों को जन्मघुटटी के रूप में ही दिया जाता था। हम देखते हैं कि स्वाधीनता प्राप्ति के लिये भी संवैधानिक या अन्य प्रकार के प्रयत्न किये गये उनमें आर्य समाजियों का सर्वात्मना योगदान था। यद्यपि आर्य समाज अपनी सार्वभौम स्थिति के कारण किसी देश की विशेष राजनैतिक हलचल में प्रत्यक्षतः भाग नहीं ले सकता था फिर भी उसके उत्साही अनुयायियों ने व्यक्तिगत रूप से ही स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सेनानियां की भांति मातृ भूमि के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन किया। कांग्रेस की स्थापना के साथ औपनिवेशिक स्तर के राज्य के लिए जो मांग उठी, उसका आर्य समाज के लाखों सदस्यों ने समर्थन

---

१ श्री मद्दयानन्द प्रकाश: भूमिका

स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ अनामियों की भांति मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन किया। कांग्रेस की स्थापना के साथ औपनिवेशिक स्तर के राज्य के लिये जो मांग उठी, उसका आर्य समाज के लाखों सदस्यों ने समर्थन किया, परन्तु जब यही मांग कालान्तर में पूर्ण स्वराज्य की मांग के रूप में परिवर्तित हो गई और कांग्रेस ने अभिजात्य वर्ग की प्रतिनिधि संस्था का रूप त्याग कर देश के करोड़ों लोगों की स्वराज्य विषयक आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना आरम्भ किया तो मातृ-भूमि को बंधनों से मुक्त करने के लिये लालायित लाखों आर्य समाजियों ने महात्मा गांधी के आह्वान पर असहयोग, सत्याग्रह तथा सविनय अवज्ञा आदि के आन्दोलनों में भाग लिया तथा देश की यातनायें सहन की। गांधी युग के पहले की राजनीति हलचलों में भी आर्य समाजी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा चुके थे। लाला लाजपत राय, सरदार अजीत सिंह आदि की राजनैतिक गतिविधियों के मूल में स्वामी दयानन्द की उदात्त राष्ट्रीय शिक्षायें ही कार्य कर रही थीं। कालान्तर में जब क्रान्तिकारी दलों का संगठन हुआ और आतंकवादी कार्यों से विदेशी सरकार का तख्ता पलटने की कोशिश की गई तो स्वाधीन चेता आर्य युवकों के जोश का पारावार नहीं रहा। वे खुले रूप में देश के पराधीनता के पाशों को काटने के लिये किये जाने वाले क्रान्तिकारी प्रयत्नों में जुट पड़े। भारत में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का प्रारम्भ ही उस व्यक्ति से माना जाता है जिसे स्वामी दयानन्द का प्रत्यक्ष शिष्य होने का गौरव प्राप्त था। हमारा अभिप्राय श्याम जी कृष्ण वर्मा से है। अपने इंगलैंड प्रवास के समय श्याम जी ने क्रान्तिकारी दल का गठन किया और भारतीय युवकों में मातृभूमि की स्वाधीनता के लिये सर्वस्व समर्पित करने की भावना उत्पन्न की। कालान्तर में फ्रांस और स्विट्जरलैन्ड में रह कर उन्होंने क्रान्तिकारी गतिविधियों का संचालन किया। स्वाधीनता के लिये आजन्म महान कष्ट झेलने वाले स्वातंत्र्य वीर विनायक दामोदर सावरकर श्याम जी कृष्ण वर्मा के ही शिष्य थे।

अमर शहीद भगत सिंह[1], रामप्रसाद बिस्मिल[2], भाई बालमुकुन्द, गेंदा लाल दीक्षित तथा सोहन लाल पाठक[3] तो प्रत्यक्षतया आर्य समाज से प्रभावित

---

१ अमर शहीद भगतसिंह और उनके मृत्युंजय पुरखे-ले० कु० वीरेन्द्र सिन्धु

२ रामप्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा

३ भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम में आर्य समाज का योदान ले० पं० सत्यप्रिय शास्त्री

पारिवारिक पृष्ठभूमि से प्रेरणा लेकर ही स्वाधीनता के महायज्ञ में अपनी अमर आहुति देने के लिये तत्पर हुये थे। अन्य भी सहस्रों ज्ञात एवं अज्ञात आर्य समाजियों ने राष्ट्रीयता के व्यापक प्रचार एवं प्रसार में जाने अजाने अपना योगदान दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनैतिक गतिविधियों में आर्य समाजियों के प्रत्यक्ष योगदान को देखकर ही ब्रिटिश सरकार को यह शंका हुई थी कि आर्य समाज एक राजनैतिक दल है जो षड्यंत्रकारी कार्यवाहियों में संलग्न रहकर विदेशी सत्ता को उखाड़ने के लिए प्रयत्नशील है। तभी तो पटियाला राज्य ने अंग्रेजी सरकार की शह पाकर आर्य समाजी कार्यकर्त्ताओं पर वह प्रसिद्ध अभियोग चलाया जिसमें इस्तगासे के वकील श्री ग्राथेर ने स्वामी दयानन्द रचित सत्यार्थप्रकाश तथा आर्याभिविनय के कतिपय निर्दोष उद्धरणों के आधार पर आर्य समाज के प्रवर्तक की शिक्षा को आतंकवाद एवं राजद्रोह की प्रेरणा देने वाली सिद्ध करना चाहा था[1]। यह दूसरी बात है कि आर्य समाज के तत्कालीन दूरदर्शी नेताओं ने अत्यन्त बुद्धिमत्ता के साथ उस अभियोग में स्वपक्ष को प्रस्तुत किया और सरकार की क्रोधाग्नि से उत्पन्न होने वाली विभीषिका से अपनी प्रिय संस्था को अनायास ही बचा लिया।

तत्कालीन विदेशी सरकार आर्य समाज को किस प्रकार राजनैतिक गतिविधियों की सूत्र संचालक तथा राजद्रोही मानती थी, यह उस साम्राज्यवादी विचारधारा के उग्र पैरोकार वेलेन्टाइन शिरोल की बहुचर्चित पुस्तक *Indian Unres* की कतिपय विवेचनाओं से सिद्ध होता है जिसमें उसने येन केन प्रकारेण आर्य समाज को ही देश में उत्पन्न राजनीतिक चेतना का श्रेय देने की चेष्टा की है। दुर्भावना से लिखी गई यह पुस्तक भी प्रकारान्तर से आर्य समाज के प्रखर राष्ट्रवादी स्वरूप को ही उद्घाटित करती है। फलतः शिरोल का यह पूर्वाग्रह युक्त विवेचन भी अभिशाप के रूप में वरदान बनकर ही प्रकट हुआ है। शिरोल के कतिपय उद्धरण द्रष्टव्य हैं। वह लिखता है—"एक प्रकार से आर्य समाज हिन्दू पुराण पंथिता का विरोध करता प्रतीत होता है परन्तु प्रकारान्तर से वह पश्चिमी आदर्शों के विरुद्ध ही विद्रोह जाग्रत करता है[2]। अपनी एक

---

१ द्रष्टव्य Arya Samaj and its Detractors : A Vindication. By M. Munhsi Ram and Acharye Ramdeo.

2. "The Arya Samaj represents in one of its aspects a revolt against Hindu orthodoxy, but in another it represents equally a revolt against western ideas" Indian Unrest P.27.

अन्य पुस्तक *Indian Oldand New* में शिरोल ने लिखा–आर्य समाज की यह धारणा थी कि यूरोपियनों से संबंध विच्छेद करना एक धार्मिक कर्त्तव्य है। एक मनुष्य (भारतवासी) जितने अधिक अच्छे ढंग से अपने धर्म को समझने लगता है, उतनी ही उसकी यह धारणा स्पष्टतर होती जाती है कि यूरोपियनों तथा यूरोपीय प्रभाव का उच्छेद किया जाना आवश्यक है [1]।

सरकार के इस संदेहशील रवैये के कारण आर्य समाज के अनुयायियों को विविध यातनायें सहन करनी पड़ी। सरकार के गुप्तचर विभाग की यह धारणा हो गई थी कि आर्य समाज मंदिर तथा वहां आयोजित सत्संग, प्रवचन एवं अन्य आयोजन मात्र विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने की योजनाये ही तैयार करते हैं। फलतः आर्य समाज को विभिन्न आपदायें सहन करनी पड़ी। अविश्वास का जो वातावरण बन गया था, उसके कारण निर्दोष व्यक्ति भी दमन के शिकार बने। 'आर्य पत्रिका, लाहौर में प्रकाशित एक समाचार से विदित होता है कि १८८६ में लाहौर के केन्द्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालय से तीन आर्य विद्यार्थियों को केवल इसी लिए बहिष्कृत कर दिया गया क्योंकि उन्होंने स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य की महीधर भाष्य से उत्कृष्टता का प्रतिपादन करते हुये एक पुस्तिका प्रकाशित कराई थी[2]। स्वामी आलाराम ने इलाहाबाद के न्यायालय में आर्य समाज पर राजद्रोह का आरोप लगाते हुये एक अभियोग चलाया। इसमें वादी का यही कथन था कि स्वामी दयानन्द के उपदेशों और प्रार्थनाओं में विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने की प्रेरणा दी गई है। यह संतोष का

---

1. "The Samaj believes that it is a religious duty to get rid of Europeans and all that evils that attend them. The better a man understands his religion, the more clear will be his perception that Europeans and European influences must he rooted out." India old and New. P,121.

2. In the year 1889 three Arya Students were expelled from Lahore Central Training College because they had compiled a Pamphlet with a view to showing that superiority of Swami Dayanand's commentary on the *Yajur Veda* over one, the one written by Mahidhar" The Arya Patrika 20 Dec 1889.

विषय रहा है कि जिला मजिस्ट्रेट श्री पी० हैरिसन ने यह निर्णय देते हुए आलाराम का अभियोग खारिज कर दिया कि दयानन्द के ग्रन्थों में उल्लिखित प्रेरणायें और प्रार्थनायें विदेशी शासन को अविलम्ब उखाड़ फेंकने को प्रोत्साहित नहीं करतीं। उनसे ऐसे सुधारों को बल अवश्य मिलता है जिससे निकट भविष्य में हिन्दू स्वशासन की योग्यता अर्जित कर लें[1]।

राष्ट्रीय भावना का आधार—स्वदेशी का आग्रह—

स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग राष्ट्रीय भावना का सुदृढ़ आधार है। स्वामी दयानन्द ने यह अनुभव किया था कि जब देशवासी अपनी वस्तुओं से प्रेम नहीं करने लगेंगे तब तक उनमें स्वदेश भक्ति पूर्ण गौरव के साथ प्रतिष्ठित नहीं होगी। वे यदा कदा अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों को स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग की प्रेरणा देते थे। छलेसर के ठाकुर भूपालसिंह के पुत्र उमरावसिंह जब विदेशी वस्त्र पहने स्वामी जी के दर्शनार्थ उपस्थित हुये तो स्वामी जी ने उनकी भर्त्सना करते हुये कहा "हमें स्वदेशी वस्त्र ही पहनने चाहिए। जीवन में सरलता एवं सादगी ही हमारे आदर्श होने चाहिये"। स्वामी जी के शिष्यों और अनुयायियों ने स्वदेशी तथा अन्य वस्तुओं का उपयोग करना उनके जीवन काल में ही आरम्भ कर दिया था। लाहौर आर्य समाज के मंत्री लाला साईंदास, जो स्वामी जी के सम्पर्क में आने वाले पंजाबी पुरुषों के अग्रगण्य थे, स्वदेशी वस्त्रों के प्रयोग के प्रबल समर्थक थे। जोध पुर के प्रधान मंत्री महाराजा प्रतापसिंह तो स्वामी जी की स्वदेशी विषयक शिक्षाओं से इतने अधिक प्रभावित हुये कि उन्होंने अपने राज्य की सेना की वर्दी ही खादी की बनाने का आदेश दिया तथा अन्य राज्य कर्मचारियों को भी स्वदेशी वस्त्र धारण की प्रेरणा देते रहे। स्वदेशी के प्रति अपने उत्कट अनुराग को व्यक्त करते हुए स्वामी जी ने ब्राह्मसमाज की समीक्षा के प्रकरण में निम्न मार्मिक पंक्तियां

---

1. "His exhortation and prayers are not for the immediate overthrow of the foreign rule, but for such reformation as may perhaps enable the Hindus in the future to govern themselves." Extract from the judgment delivered by Mr.P. Harrison I.C.S.,D.M of Allahabad. 25.11.1902.

लिखी है —इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है । देखो (ये यूरोपियन) अपने देश के बने हुये जूते को आफिस और कचहरी में जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं । इतने ही में समझ लेओ कि अपने देश के बने जूतों का भी कितना मान प्रतिष्ठता करते हैं उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं करते । देखो, कुछ सौ वर्ष के ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज यह लोग मोटे कपड़े आदि पहिनते हैं जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे, परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल चलन नहीं छोड़ा और तुममें से बहुत से लोगों ने उनकी नकल कर ली, इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान ठहरते हैं[1] ।

राष्ट्रीयता का केन्द्र बिन्दु—राष्ट्रभाषा—

राष्ट्रीयता के भाव को सुदृढ करने के लिये स्वामी दयानन्द ने जिन विभिन्न उपायों को क्रियान्वित करने की योजना बनाई उनमें संपूर्ण राष्ट्र के लिए एक राष्ट्रभाषा के प्रचार और प्रसार की योजना सर्वप्रमुख थी । यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि स्वामी जी की मातृ भाषा हिन्दी नहीं थी । वे संस्कृत के निष्णात विद्वान थे और पर्याप्त समय तक गंगातट प्रवर्ती प्रान्तों का भ्रमण करते हुये संस्कृत में ही सम्भाषण करते तथा अपने विचारों का आदान प्रदान करते रहे । उनकी संस्कृत अत्यन्त सरल, मधुर एवं प्रसाद गुणयुक्त होती थी । कलकत्ता प्रवास के समय उनके जीवन में एक ऐसी घटना घटी, जिससे उन्हें यह विदित हो गया कि संस्कृत के स्थान पर लोक भाषा हिन्दी का प्रयोग ही अधिक समीचीन एवं उपयुक्त है । जब वे कलकत्ता में २३ फरवरी १८७३ ई० को गौराचांद के दत्त के गृह पर वक्तृता देने उपस्थित हुए तो संस्कृत कालेज के उपाचार्य पं० महेश चन्द्र न्यायरत्न ने उनके संस्कृत व्याख्यान का बंगला अनुवाद उपस्थित किया । दुर्भाग्यवश न्यायरत्न महाशय अपने पक्षपात एवं पूर्वाग्रह के कारण स्वामी जी के भावों का ठीक ठीक अनुवाद नहीं कर सके, फलत: उनका यह बंगला उल्टा वक्ता के मूल आशय के विपरीत हो गया । संस्कृत के उपस्थित छात्र समुदाय ने अनुवाद के कार्य पर जब आपत्ति की तो न्याय रत्न महाशय सभा का परित्याग कर चले गये । इस घटना ने स्वामी जी के चिंतन को एक नवीन दिशा प्रदान की । साथ ही ब्राह्म नेता केशवचन्द्र सेन

---

१ सत्यार्थ प्रकाश: एकादश समुल्लास

ने भी उन्हें हिन्दी में बोलने के लिये कहा और उदारमना स्वामी जी इस तर्क संगत प्रस्ताव से सहमत हो गये।

स्वामी जी की प्रथम हिन्दी वक्तृता काशी में हुई। यद्यपि अभी तक परिष्-कृत और परिमार्जित हिन्दी में विचाराभिव्यक्ति उनके लिये सहज नहीं थी, अनायास ही संस्कृत के वाक्य के वाक्य उनके मुंह से निकल जाते थे, तथापि वे आर्य भाषा के प्रति पूर्ण निष्ठावान रहकर उसके प्रचार एवं प्रसार में संलग्न रहे। कालान्तर में जब आर्य समाज की स्थापना हुई तो उसके प्रारम्भिक नियमों में संस्कृत के साथ आर्य भाषा को भी महत्व पूर्ण स्थान मिला तथा 'आर्य प्रकाश, नामक एक पत्र भी हिन्दी में प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई। यह ज्ञातव्य है कि स्वामी दयानन्द भारत की जनभाषा हिन्दी को 'आर्य भाषा, के नाम से ही अभिहित करते थे। इस नामकरण में उनका लक्ष्य हिन्दी को समग्र आर्यावर्त (भारतवर्ष) की एकमात्र प्रधान भाषा के रूप में स्वी-कृति प्रदान कराना था। 'आर्य शब्द अपनी गम्भीर एवं उदात्त अर्थवत्ता के कारण एक सर्व स्वीकृत अभियान है, इसी प्रकार आर्यावर्त वासियों की भाषा को आर्य भाषा कहना नितान्त समीचीन ही था।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के सार्वत्रिक प्रचार प्रसार का जो मधुर स्वप्न स्वामी जी ने संजोया था, उसे व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिये भी वे कृत संकल्प थे। अब वे मौखिक प्रचार के साथ साथ साहित्य लेखन में भी हिन्दी का प्रयोग करने लगे। १८७५ ई० में उन्होंने अपनी प्रमुख कृति सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी में ही लिखकर प्रकाशित की। यद्यपि इस समय तक उनका हिन्दी लेखन अधिक सशक्त, प्रवाहपूर्ण एवं व्याकरण सम्मत नहीं हो पाया था परन्तु काला न्तर में जब उन्होंने इस ग्रन्थ का संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित किया तो उनकी भाषा अधिक परिमार्जित, शैली अधिक प्रौढ़ तथा अभिव्यक्ति अधिक सशक्त हो चुकी थी।[1] यहाँ स्वामी जी की हिन्दी शैली का अध्ययन अपेक्षित नहीं है किन्तु यह बताना आवश्यक है कि उनके द्वारा हिन्दी प्रचार की जो प्रेरणा उनके अनुयायियों को मिली उसी के फलस्वरूप हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो सकी।

---

१ सत्यार्थ प्रकाश: भूमिका

स्वामी जी ने राष्ट्रभाषा के प्रयोग पर बल दिया । हिन्दी को अधिकाधिक व्यापकता प्रदान करने के सभी प्रयत्नों का उन्होंने समर्थन किया। १८८२ ई० में भारत के विद्यालयों में भाषा के अध्ययन विषयक समस्या की जानकारी प्राप्त करने के लिए श्री डबल्यू-डबल्यू हण्टर की अध्यक्षता में एक आयोग स्थापित किया गया । आयोग ने भाषा विषयक देशवासियों की सम्मति जाननी चाही । उस समय स्वामी जी ने अनेक पत्र लिखकर आर्य समाजों को यह प्रेरणा दी कि वे हण्टर कमीशन के समक्ष हिन्दी के प्रश्न को दृढ़ता के साथ प्रस्तुत करें तथा उसे विभिन्न प्रान्तों में शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रयास करें । इस संबंध में उन्होंने आर्य समाज फर्रुखाबाद के मंत्री तथा उसी नगर के निवासी बाबू दुर्गाप्रसाद को जो पत्र लिखे हैं, उनसे स्वामी जी के राष्ट्रभाषा विषयक हार्दिक भाव स्पष्ट होते हैं । वे हिन्दी के प्रचार को मुख्य सुधार की एक मजबूत नींव मानते हैं ।[1] स्वामी जी के आदेश और प्रेरणा की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई और मेरठ,मुलतान, लाहौर, फरुखाबाद, लखनऊ आदि की आर्य समाजों ने कमीशन के द्वारा प्रकाशित प्रश्नों का उत्तर देते हुए विभिन्न प्रान्तों में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने पर जोर दिया । हिन्दी भाषी प्रान्तों की आर्य समाजों ने तो कमीशन के सम्मुख हिन्दी का पक्ष रक्खा ही, पंजाब जैसे प्रान्त की जहाँ उर्दू, फारसी का व्यापक प्रचार था, आर्य समाजों ने भी हिन्दी माध्यम को शिक्षा के लिए उपयोगी स्वीकार करते हुए हण्टर कमीशन के समक्ष अपनी गवाहियाँ प्रस्तुत कीं । लाहोर आर्य समाज की ओर से लाला द्वारिका दास एम० ए० ने कमीशन के द्वारा प्रेषित प्रश्नावली का उत्तर देते हुए आर्य समाज के शिक्षा एवं भाषा दृष्टिकोण को स्पष्ट किया । उन्होंने अपनी गवाही में इस बात पर दृढ़ता पूर्वक बल दिया कि पंजाब में उर्दू और फारसी के स्थान पर हिन्दी के अध्ययन की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए । साथ ही फारसी लिपि को दोष पूर्ण एवं अवैज्ञानिक बताते हुए देवनागरी लिपि के प्रचलन पर जोर दिया ।[2]

---

१ ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० ३५५

2. The Ayra Magazine. Lahore. Edited by R-C. Beri.

यहाँ राष्ट्रभाषा के संबंध में स्वामी जी के कार्यों का उल्लेख स्थाली-पुलाक न्याय से ही करना समीचीन है। वे अपने सम्पर्क में आने वाले पुरुषों को हिन्दी में कार्य करने की प्रेरणा देते रहते थे। अपने जोधपुर प्रवास काल में उन्होंने महाराजा जसवन्त सिंह को पत्र लिखते हुये राजकुमार को हिन्दी और संस्कृत सिखाने के लिये आग्रह किया।[1] अपने ग्रन्थों का उर्दू अथवा अंग्रेजी में अनुवाद किया जाना उन्हें अभीष्ट नहीं था, क्यों कि उनकी यह धारणा थी कि यदि ये ग्रन्थ अन्य भाषाओं में अनुमुदित हो जायेंगे तो लोगों को संस्कृत तथा हिन्दी में इन्हें पढ़ने की रुचि नहीं रहेगी। निष्कर्षतः यह कहना सर्वथा उपयुक्त है कि स्वामी जी ने हिन्दी को राष्ट्रीयता के एक सुदृढ़ आधार के रूप में स्वीकार किया था। पं० मोहन लाल विष्णुलाल पण्डया से वार्तालाप के प्रसंग में उन्हों ने यह स्पष्ट कर दिया था जब तक समस्त देशवासी एक धर्म, एक भाषा, एक आचार विचार तथा एकध्येय वाले नहीं बन जायेंगे तब तक जातीय उन्नति स्वप्नवत् हीं रहेगी। निश्चय ही राष्ट्रीय एकता की सिद्धि में राष्ट्रभाषा की महत्ता को उन्होंने पूर्णतया अनुभव किया था।

आर्य समाज और राष्ट्रभाषा—

महर्षि के निधन के पश्चात् उनका स्थानापन्न आर्य समाज अपने संस्थापक के बहुविध कार्यों को पूरा करने में तत्पर हो गया। इसी योजना के अनुसार उसने हिन्दी प्रचार को भी अपना लक्ष्य बनाया। अपने सुदीर्घ जीवन काल में राष्ट्रभाषा पद पर हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के लिये आर्य समाज ने अनथक प्रयत्न किये। इन प्रयासों का संक्षिप्त विवेचन भी पूर्णतया दुष्कर है।[2] क्योंकि हिन्दी भाषा के प्रचार एवं प्रसार तथा हिन्दी साहित्य लेखन का कोई ऐसा क्षेत्र अवशिष्ट नहीं है जिसमें आर्यसमाज ने अपन कृतित्व का परिचय न दिया हो। पंजाब जैसे प्रान्त में जहां हिन्दी जानने और पढ़ने वाले लोगों की संख्या अत्यन्त

---

१ ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ४६४

२ विस्तार के लिये द्रष्टव्य- हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन।

ले० डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त, लखनऊ विश्वविद्यालय से प्रकाशित।

नगण्य थी, आर्य समाज ने हिन्दी प्रचार का उल्लेखनीय कार्य किया। परिणाम यह निकला कि पंजाब में हिन्दी की लोकप्रियता दिन प्रतिदिन बढ़ती गई और वहां शिक्षा, पत्रकारिता तथा धर्म प्रचार के लिए हिन्दी को मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर लिया गया। इसी प्रकार आर्य समाज ने दक्षिणी प्रान्तों में वैदिक धर्म के प्रचारार्थ जो उपदेशक भेजे, उन्होंने भी अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार किया। यह कार्यक्रम भारत तक ही सीमित नहीं रहा। अफ्रीका,गायना मारशिस, फिजी आदि देशों में जहां जहाँ आर्य समाज प्रवासी भारतवासियों के माध्यम से पहुंचा वहाँ वहां वह हिन्दी की विजय-वैजयन्ती को भी फहराता किया गया। परिणाम यह निकला कि आज विश्व भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकृति मिलने की जो संभावनायें उत्पन्न हो गयी हैं उनका बहुत कुछ श्रेय आर्य समाज को ही है। नागपुर में आयोजित विश्व हिन्दी सम्मेलन में उपस्थित विदेशी प्रतिनिधियों ने इस तथ्य को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।

जहां तक काव्य, नाटक, कथा, उपन्यास तथा पत्रकारिता आदि की विभिन्न साहित्यिक विधाओं में कृतकार्यता प्राप्त कर राष्ट्रभाषा के साहित्य भण्डार को समृद्ध करने का प्रश्न है, आर्य समाजी साहित्यकार इस क्षेत्र में भी अपने दायित्व को पूरा कर चुके हैं। पं० नाथूराम शंकर शर्मा, पं० हरिशंकर शर्मा पं० अनूप शर्मा आदि कवियों, प० सुदर्शन, पं० चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि कथाकारों, पं० रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य, प० पद्म सिंह शर्मा आदि पत्रकारों एवं समालोचकों ने आर्य समाज से ही प्रेरणा पाकर हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धिकी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्य समाज ने राष्ट्रीयता के भाव को एक सुदृढ़ आधार भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। स्वदेश निष्ठा, स्वसस्कृति से प्रेम स्वभाषा अनुराग स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग आदि कतिपय ऐसे तत्व हैं जिनके आधार पर ही राष्ट्रीयता का भवन खड़ा रहता है। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं आर्य समाज विश्व मानवता का पोषक है। उसका राष्ट्रवादी विचार-

---

१ हिन्दी साहित्य को आर्य समाज की देन ले० श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' मधुर प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित।

२ आर्य समाज और हिन्दी ले० डा० सूर्यदेव शर्मा आर्य साहित्य मण्डल अजमेर से प्रकाशित।

धारा का अन्तर्राष्ट्रीयता के व्यापक दृष्टिकोण से कोई विरोध नहीं है। इसका मुख्य कारण यही है कि आर्य समाज की स्थापना में उसके संस्थापक का मुख्य लक्ष्य किसी देश विदेश की परिस्थितियों का सुधार करना ही न रहकर मानव मात्र की हित सिद्धि ही था। यही कारण है कि अन्य देशों में निवास करने वाले आर्य समाजी अपने देश के निष्ठावान नागरिक की भांति अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं। यह अवश्य है कि आर्यावर्त की पवित्र भूमि के प्रति अपने पूर्वजों की मातृ भूमि होने तथा आर्य संस्कृतिका मूल उत्स होने के कारण उन के हृदयों में अशेष श्रद्धा और भक्ति के भाव होते हैं।

o — — o

अध्याय–७

आर्यसमाज और भारतीय शिक्षा पद्धति

लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक 'दुखी भारत'(unhappy india) में यह बताया है कि अंग्रेजों के भारत में आगमन से पूर्व इस देश में एक व्यवस्थित शिक्षा प्रणाली प्रचलित थी। गांव गांव में पाठशालायें स्थापित थीं, जिनमें छात्र व्यवस्थित रूप से विभिन्न विद्याओं और शास्त्रों का अभ्यास करते थे। कालान्तर में विदेशी शासन स्थापित होने पर शिक्षा की व्यवस्था में कुछ ऐसे परिवर्तन किये गये जिनके कारण इस देश के लोग अपनी अस्मिता को भूलने लगे और उनमें विदेशी संस्कार बद्धमूल होते गये। ईसाई प्रचारकों ने भी शिक्षा में हाथ बटाया परन्तु उनका प्रयोजन स्पष्ट ही अपने धर्म का प्रचार करना था। उनके द्वारा कहा गया कि इस शिक्षा के द्वारा उन लोगों को सच्चे ईश्वर तथा ईसा मसीह का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कराया जायगा जो मूर्तियों की घृणास्पद पूजा में लगे हुए हैं[2]।

भारत की शिक्षा-नीति को पाश्चात्य सांचे के अनुसार ढालने का प्रयास अंग्रेज शासकों ने किया हो, ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहनराय ने भी लार्ड मैकाले के स्वर में स्वर मिला कर अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का ही गौरव-गान किया। लार्ड एमहर्स्ट को लिखे गये अपने पत्र में उन्होंने संस्कृत के अध्ययन को क्लिष्ट बताते हुए लिखा—"संस्कृत भाषा इतनी क्लिष्ट है कि उसे सीखने में लगभग सारा जीवन लगाना पड़ता है। ज्ञान वृद्धि के मार्ग में यह शिक्षा कई युगों से बाधक सिद्ध हो रही है। इसे सीखने पर जो लाभ होता है वह इसको

---

१ इण्डियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित।

2. Some others now engaged in the degrading and polluting worship of the idols shall be brought to the knowledge of the true God and Jesus Christ."

सीखने में किये गये परिश्रम की तुलना में नगण्य है[1]। इसी पत्र में आगे क्रमशः संस्कृत व्याकरण, वेदान्त, मीमांसा न्याय आदि विषयों के शास्त्रीय अध्ययन को निरर्थकता तथा निस्सारता का प्रतिपादन करते हुये अन्त में उपसंहार रूप में लिखा गया है —यह संस्कृत शिक्षा प्रणाली देश को अंधकार में गिरा देगी। क्या ब्रिटिश शासन की यही नीति है[2]?

संस्कृत शिक्षा और स्वामी दयानन्द—

जिस समय राजा राममोहनराय ने अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के प्रचलन का हार्दिक समर्थन किया, नव-जागरण के उसी युग में नवोदय के एक अन्य सूत्रधार स्वामी दयानन्द ने शिक्षा के विषय में अपना मौलिक चिंतन प्रस्तुत करते हुये देश की परम्परागत शिक्षा प्रणाली के पुनरुद्धार का अभूतपूर्व प्रयास किया। शिक्षा शास्त्री के रूप में स्वामी दयानन्द ने शिक्षा विषयक जो सूत्र अपने लेखों, ग्रन्थों तथा वक्तृताओं में दिये हैं, उनका संकलन और आकलन किया जाना आवश्यक है। अपने प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय और तृतीय समुल्लास में उन्होंने इस विषय को उठाया है 'अथ शिक्षा प्रवक्ष्यामः' इस सूत्र के साथ द्वितीय समुल्लास का प्रारम्भ होता है तथा 'अथाऽध्ययनाध्यापन विधि व्याख्यास्यामः के साथ तृतीय समुल्लास की रचना आरम्भ होती है दोनों अध्यायों में शिक्षा विषयक भारत की शास्त्रीय आर्य परिपाटी का विस्तृत विवेचन करते हुए स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मचर्य आश्रम, स्वाध्याय और प्रवचन, अध्ययन समाप्ति के पश्चात दीक्षान्त अनुशासन, संस्कृत के शास्त्रीय वाङ्मय का अध्ययन

---

1. "The Sanskrit language, so difficult that almost a life is necessary for its acquisition, is well known to have been for ages a lamentable check to the diffiusion of knowledge, and the learning concealed under this imperious veil, is far from sufficient to reward the labour of acquiring it" A Letter on English Education

2. The Sanskrit system of education would be the best calculated to keep this country in darkness; if such has been the policy of the British legislator." A Letter on English Education.

क्रम और पाठविधि, त्याज्य और ग्राह्य पाठ्य पुस्तकें, स्त्रियों और शूद्रों का शास्त्राध्ययन अधिकार, स्त्री शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषयों का सांगोपांग वर्णन किया है।

संस्कृत के पठन-पाठन के लिये स्वामी दयानन्द ने एक विशिष्ट क्रम निर्धारित किया था। इसका उल्लेख सत्यार्थ प्रकाश के अतिरिक्त ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के पठन-पाठन विषय तथा संस्कार-विधि के वेदारम्भ संस्कार के अन्तर्गत किया है। पठन-पाठन प्रणाली का यह विस्तृत निर्देश यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि स्वामी दयानन्द संस्कृत शिक्षा प्रणाली के मर्मज्ञ थे तथा वे उनमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करना चाहते थे।

अपनी इस पाठविधि का क्रियान्वयन करने के लिये स्वामी जी ने स्वयं उत्तर प्रदेश के कई नगरों में संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना की। धनी-वर्ग के लोगों को उन्होंने पाठशाला संस्थापन के पुनीत कार्य में आर्थिक सहायता देने के लिए प्रेरित किया। इन पाठशालाओं का आदर्श प्राचीन गुरुकुल-प्रणाली के अनुरूप ही रक्खा गया, जिसके अनुसार छात्र और अध्यापक एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रहकर चरित्र निर्माण के साथ साथ शास्त्राध्ययन में प्रवृत हो सकें। स्वामी जी ने ये पाठशालायें कासगंज फर्रुखाबाद, मिर्जापुर, छलेसर, काशी आदि स्थानों मे स्थापित की योग्य अध्यापकों के अभाव तथा आर्ष ग्रन्थों के पठन-पाठन में छात्रों द्वारा विशेष अभिरुचि व्यक्त न किये जाने के कारण स्वामी जी को अपने जीवन-काल मे ही इन पाठशालाओं बन्द कर देना पड़ा था। तथापि यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि संस्कृत के उद्धार हेतु स्वामी जी का पाठशाला संस्थापन का कार्य वस्तुतः श्लाघनीय था। इन पाठशालाओं में ही आर्य समाज द्वारा कालान्तर मे स्थापित गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के बीच छिपे थे, जिसने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में युगान्तकारी परिवर्तन उपस्थित किया।

स्वामी दयानन्द ने संस्कृत शिक्षा प्रणाली को सुगम बनाने के लिए पठन-पाठन व्यवस्था के अन्तर्गत कतिपय पाठ्य ग्रन्थ भी लिखे। ऐसे ग्रन्थों में संस्कृत वाक्य प्रबोध व्यवहारभानु तथा 'वेदांग प्रकाश' के चौदह भाग उल्लेखनीय हैं। 'संस्कृत वाक्य प्रबोध' की रचना छात्रों में संस्कृत सम्भाषण में रुचि उत्पन्न करना तथा उनमें दैनन्दिन विषयों पर संस्कृत के माध्यम से सुगमरीत्या वार्तालाप करने की क्षमता उत्पन्न करने हेतु की। 'व्यवहार-भानु' छात्राओं और

अध्यापकों की आचार संहिता है जिसमें गुरु शिष्य संबंध का विवेचन एवं उनके आचार व्यवहार, तथा नीति-रीति विषयक स्वर्णिम सूत्रों का गुम्फन हुआ है। 'वेदांग प्रकाश पाणिनीय व्याकरण के विविध अंगों को सुगम रूप से सीखने का अद्भुत ग्रन्थ है।

स्वामी दयानन्द केवल पुस्तकीय ज्ञान के ही पक्षपाती नहीं थे। उनकी दृढ़ धारणा थी कि जब तक देश के नव युवकों को उद्योग, कला कौशल तथा तकनीकी व्यवसायों की शिक्षा नहीं दी जायगी तब तक देश आर्थिक दृष्टि से समृद्ध नहीं होगा। इसी दृष्टि से उन्होंने कुछ युवकों को जर्मनी भेजा था, ताकि वहां रहकर वे औद्योगिक प्रशिक्षण प्राप्त कर देश की सम्पन्नता में अपना योगदान कर सकें।

स्वामी दयानन्द शिक्षा के सिद्धान्त—

संक्षेप में स्वामी दयानन्द के शिक्षा विषयक सूत्रों को इस प्रकार निबद्ध किया जा सकता है —

(१) विद्यार्थी का मुख्य प्रयोजन शास्त्राभ्यास के साथ साथ चरित्र निर्माण करना है। चरित्र-निर्माण की शिक्षा गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में ही सम्भव है, अत: प्राचीन पद्धति के गुरुकुलों की स्थापना आवश्यक है।

(२) पाठ्य ग्रन्थों में उन्हीं पुस्तकों का समावेश होना चाहिए जो साक्षात्-कृत-धर्मा, मंत्रद्रष्टा ऋषियों की कृतियां है। अनार्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन क्रम में समावेश नहीं होना चाहिये।

(३) ईश्वरीय ज्ञानवेद तथा संस्कृत शास्त्रों की शिक्षा को सर्वोपरि प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

(४) शास्त्रों के साथ साथ प्राविधिक कला कौशल की शिक्षा भी जीवन यापन की दृष्टि से आवश्यक है।

(५) शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा हो। भारत की राष्ट्रभाषा-आर्य भाषा (हिन्दी) ही देश की शिक्षा का सार्वदेशिक माध्यम होनी चाहिये।

(६) बालक और बालिकायों का सहशिक्षण चरित्र विघातक हैं फलतः हानिकर है।

(७) कन्याओं की शिक्षाभी उतनी ही आवश्यक है जितनी बालकों की।

(८) शिक्षा के क्षेत्र में राजा और रंक, गरीब और अमीर का भेदभाव अवांछनीय है। प्रत्येक छात्र को अपनी योग्यता के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने का समान रूप से अधिकार मिलना चाहिए।

(९) अवसर और अनुकूलता होने पर विदेशी भाषायें भी सीखना वांछनीय है।

(१०) शिक्षा के द्वारा स्वाभिमान, स्वदेश प्रेम, ईश्वर भक्ति तथा स्वालम्बन जैसे गुणों का विकास किया जाना अपेक्षित है।

स्वामी जी के दिवंगत होने के पश्चात् उनके स्थानापन्न आर्य समाज ने अपने शिक्षा विषयक कार्यक्रम को इसी आधार पर मूर्त रूप दिया।

स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् उनके स्मारक के रूप में १८८६ई० में डी० ए० वी० कालेज, लाहोर की स्थापना हुई जो शीघ्र ही पंजाब के शिक्षा क्षेत्र में एक अद्वितीय संस्थान बन गया। महात्मा हंसराज जैसे प्रवीण शिक्षा शास्त्री ने अपना समग्र जीवन अर्पित कर डी० ए० वी० कालेज को भारतीय शिक्षा की सफल प्रयोग शाला बनाया। डी० ए० वी० कालेज को उन्नत और विकसित करने में लाला लाजपतराय तथा पं० गुरुदत्त विद्यार्थी जैसे आर्य समाज के मूर्धन्य चिंतकों का हाथ रहा है। शीघ्र ही देशभर में डी० ए० वी० संस्थाओं का जाल बिछ गया। दयॉनन्द ऐंग्लोवैदिक संस्थाओं की यह विशेषता रही कि वे न तो पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के आवश्यक एवं उपयोगी तत्वों की उपेक्षा करती हैं साथ ही भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म की आधार भूत संस्कृत भाषा तथा आर्य शास्त्रों के शिक्षण की सुचारू व्यवस्था उनमें उपलब्ध रहती है।

डी० ए० वी० कालेज लाहौर की कतिपय विशष्ट उपलब्धियां रही। वहां का लालचन्द पुस्तकालय संस्कृत के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का एक अपूर्व

संग्रह था। डी० ए० वी० कालेज के अन्तर्गत शोध विभाग भी था जिसके निदेशक के रूप में प्रसिद्ध प्राच्य विद्या विशारद प० भगवद्दत्त तथा आचार्य विश्वबन्धु ने अनेक प्राचीन महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन और प्रकाशन किया था। कला कौशल और औद्योगिक प्रशिक्षण की भी पूरी व्यवस्था इस कालेज में थी। आयुर्वैदिक कालेज भी डी० ए० वी० कालेज लाहौर का एक अंग था, जिसके द्वारा पुरातन भारतीय चिकित्सा पद्धति का अध्ययन कराया जाता था।

पंजाब के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के कानपुर, देहरादून, लखनऊ वाराणसी तथा अन्य प्रदेशों में शोलापुर (महाराष्ट्र) अजमेर (राजस्थान) आदि नगरों में डी० ए० वी० कालेजों की स्थापना हुई। कानपुर का डी० ए० वी० कालेज तो उत्तर प्रदेश का बृहत्तम शिक्षण संस्थान है जिसमें सभी संकायों का विधिवत् अध्ययन होता है। डी० ए० वी० कालेज के आन्दोलन ने देश को महात्मा हंसराज प्रिंसिपल सांईदास, दार्शनिक प्रवर डा० दीवान चन्द जैसे प्रख्यात शिक्षा शास्त्री प्रदान किये। अन्य उल्लेखनीय आर्यसमाजी शिक्षा शास्त्रियो में प्रिंसिपल सूर्यभानु, डा० गोवर्धनलाल दत्त, प्रिन्सिपल कालिकाप्रसाद भटनागर, डा० दुखनराम आदि के नाम गणनीय हैं।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली—

वस्तुत: डी० ए० वी० कालेजों की स्थापना के द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में पौरस्त्य एवं पाश्चात्य आदर्शों के समन्वय करने की ही चेष्टा की गई थी। प्रयत्न यह था कि इन शिक्षण संस्थाओं में प्राचीन संस्कृत साहित्य, दर्शन, काव्य तथा सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का सांगोपांग अध्ययन कराया जाए। साथ ही भौतिक विज्ञान, सामाजिक ज्ञान तथा अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन की भी व्यवस्था रहे। परन्तु आर्य समाज के शिक्षा समीक्षकों ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि डी० ए० वी० कालेज के तत्कालीन संचालक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा अंग्रेजी के अध्यापन के प्रति जितने सचेष्ट और आग्रहशील हैं उतने वैदिक और संस्कृत साहित्य के लिये नहीं।

इस दुविधाजनक स्थिति ने गुरुकुल स्थापना के लिये आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्कालीन प्रधान महात्मा मुन्शी राम को प्रेरित किया। महात्माजी ने स्वामी दयानन्द के शिक्षा आदर्शों को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान करने के लिये

पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा के सम्मुख गुरुकुल स्थापना विषयक प्रस्ताव रखा और उसे क्रियान्वित करने के लिए स्वयं प्राणप्रण से जुट गये। गुरुकुल के लिए उन्हें यथेष्ट आर्थिक सहायता अविलम्ब उपलब्ध हो गई और उन्होंने गुजरांवाला में गुरुकुल स्थापित कर दिया, जो कुछ समय पश्चात् मुन्शी अमनसिंह जी द्वारा प्रदत्त गंगा पार रैती पर बसे कांगड़ी ग्राम के निकट अरण्य में चला गया।

स्वामी श्रद्धानन्द के तप, त्याग और परिश्रम ने गुरुकुल काँगड़ी को देश की एक सर्वोत्तम राष्ट्रीय शिक्षा संस्था बना दिया जो प्राचीन एवं आधुनिक शिक्षा प्रणाली का एक सुन्दर समन्वयात्मक प्रयोग है। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के मूल सूत्र निम्न है —

(१) यह एक समन्वित शिक्षा पद्धति है, जिसमें प्राचीन आश्रम प्रणाली को आधार बनाकर छात्र के वैयक्तिक चारित्रिक गुणों का विकास किया जाता है। बालक में विद्यमान शक्तियों को विकसित करने का पूर्ण अवसर इस शिक्षा प्रणाली में उपलब्ध होता है। छात्र और अध्यापक का निकटतम सम्पर्क गुरुकुल शिक्षा का एक प्रधान तत्व है। प्राचीन शास्त्रीय शिक्षा के साथ साथ नवीन ज्ञान-विज्ञान एवं पश्चिमी भाषाओं और दर्शन की समन्वित शिक्षा गुरुकुल की एक निजी विशेषता है।

(२) गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ने शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को कई दशाब्दियों पूर्व ही हल कर दिया था। गुरुकुल शिक्षण की एक विशेषता है बालक की मातृभाषा (राष्ट्रभाषा) के माध्यम से ही उच्च स्तरीय ज्ञान-विज्ञान का शिक्षण। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि आज स्वतंत्रता प्राप्ति के पर्याप्त समय पश्चात् भी हमारे शिक्षा शास्त्री शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा और राष्ट्र भाषा के निवार्ध प्रयोग में संकोच का अनुभव कर रहे हैं जब कि आज से सत्तर वर्ष पूर्व गुरुकुल के संचालकों ने इस जटिल समस्या का संतोषपूर्ण समाधान ढूढ निकाला था। आज विज्ञान की शिक्षा के माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं को ग्रहण करने में अनेक आपत्तियाँ और विपत्तियों की आशंका की जाती हैं जब कि गुरुकुल कांगड़ी ने कई वर्ष पूर्व ही स्नातक स्तर पर विज्ञान की शिक्षा देने हेतु उच्च कोटि के पाठ्य

ग्रन्थों का निर्माण कर लिया था [१]। गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक, प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, डा० सत्यकेतु विद्यालकार तथा प्रो० हरिदत्त वेदालंकार आदि विद्वानों ने राजनीति शास्त्र समाजशास्त्र इतिहास आदि विभिन्न समाज शास्त्रीय विषयों पर अधुनातन महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है।

(३) गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का एक ध्येय जहां चरित्र निर्माण की दशा में छात्रों का उचित मार्ग दर्शन करना था, वहां उसका एक मुख्य प्रयोजन छात्र समुदाय में राष्ट्रीय भावनाओं की अभिवृद्धि और देश भक्ति के भावों को उद्दीप्त करना भी रहा। यही कारण है कि ब्रिटिश शासकों ने इन शिक्षण संस्थाओं को हमेशा वक्रदृष्टि से देखा। गुरुकुल शिक्षा संचालकों का भी स्वाभिमान अडिग रहा। अपनी शिक्षा नीति में वे विदेशी शासकों का हस्ताक्षेप कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते थे फलतः उन्होंने कभी गौरांग शासकों से आर्थिक अनुदान की न तो याचना की और न किसी अन्य प्रकार की सहायता को ही स्वीकार किया। अंग्रेज प्रशासक एक बार तो गुरुकुलों के प्रति इतने अधिक शंकाकुल हो गये थे कि भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड और संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर सरजैम्स मेस्टन को गुरुकुल कांगड़ी

---

१ विज्ञान के जो पाठ्यग्रन्थ उस समय हिन्दी में निर्मित हुये उनमें कुछ के नाम उल्लेखनीय हैं – (१) हिन्दी कैमिस्ट्री —प्रो० महेश-चरणसिंह (२) विकास वाद -प्रो० साठे (३) भौतिकी और रसायन -प्रो० गोवर्धन एम० ए० (४) गुणात्मक विश्लेषण प्रो० रामशरणदास सक्सेना (५) वनस्पति शास्त्र प्रो० सिन्हा (६) अर्थशास्त्र प्रो० प्राणनाथ विद्यालकार (७) राष्ट्रीय आय व्यय शास्त्र प्रो० - प्राणनाथ (८) राजनीति शास्त्र प्रो०-प्राणनाथ (९) अर्थशास्त्र प्रो० बालकृष्ण (१०) राजनीति शास्त्र प्रो० -बालकृष्ण (११) मनोविज्ञान- प्रो० सुधाकर एम० ए०

अध्याय — ८

आर्य समाज और राष्ट्रीय एकता

आर्य समाज भारत की राष्ट्रीय, साँस्कृतिक तथा सामाजिक एकता के लिये अपने जन्मकाल से ही प्रयत्नशील रहा है। आर्य समाज के प्रवर्तक ने उसे एक विशिष्ट धार्मिक और सांस्कृतिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया था। यद्यपि स्वामी दयानन्द भी अपनी मातृभूमि को पराधीनता के पाश से मुक्त कराने के लिए उतने ही उत्सुक थे, जितने उनके परवर्ती स्वाधीनचेता महापुरुष, परन्तु उनकी यह निश्चित धारणा थी कि जब तक देश के आम आदमी की हालत नहीं सुधरती, जब तक धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर प्रचलित रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों तथा मूर्खतापूर्ण आचारों से वे अपने आपको मुक्त नहीं कर लेते, जब तक समस्त देशवासी एक धर्म एक विचारधारा, एक भाषा और एक ही संस्कृति को स्वीकार नहीं कर लेते तब तक विदेशी दासता से छुटकारा प्राप्त करने में वे असमर्थ रहेंगे। अपने उदयपुर निवास काल में पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वामी जी ने यही विचार व्यक्त किये थे[1]। राष्ट्रीय एकता केवल राजनीतिज्ञों द्वारा प्राप्त किया जाने वाला लक्ष्य नहीं है, उसके लिए विभिन्न धर्माचार्यों और सार्वजनिक नेताओं को प्रयत्न करना होगा, यह स्वामी जी का दृढ़ विचार था।

स्वामी दयानन्द ने स्वयं राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न भी किया था। वे अपने भ्रमण काल में विभिन्न समकालीन धार्मिक

---

१ एक दिन पण्ड्या मोहनलाल ने महाराज से प्रश्न किया कि भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति कब होगी ? महाराज ने जो उत्तर दिया उसका सार यह था कि एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना ऐसा होना दुष्कर है इसीलिये मैं चाहता हूं कि देश के नृपगण अपने अपने राज्य में धर्म, भाषा और भाव में एकता उत्पन्न करें।

महर्षि दयानन्द का जीवन चरित भाग २ पृ० ३०७

पं० घासीराम रचित

और सामाजिक महापुरुषों से सम्पर्क स्थापित कर राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के लिए विचार विमर्श करते रहते थे। अपने कलकत्ता प्रवास काल में उन्होंने बंगाल के ब्रह्मसमाजी तथा अन्य सुधारवादी नेतागण- देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि से भेंट की तथा यह प्रयास किया कि बंगाल में धर्म, समाज संस्कृति और शिक्षा के क्षेत्र में जो सुधार की नवीन लहर उठी है। उसे देश के अन्य भागों में फैलाने की चेष्टा की जाय। इस कार्य में ब्राह्म समाज का जो सहयोग मिलता उसे लेने के लिए वे तैयार थे। इसी प्रकार समय समय पर अपनी महाराष्ट्र और पंजाब की यात्राओं में भी स्वामी जी का देश के सार्वजनिक नेताओं से भेंट करना[1] यह सूचित करता है कि वे देश के समक्ष विद्यमान समस्याओं का हल निकालने भारतीय जन समाज की कठिनाइयों को दूर करने तथा व्यापक हिन्दू समाज के हितों की रक्षा करने में कटिबद्ध रहे। जीवन के अन्तिम काल मे राजस्थान प्रवास के समय उनके द्वारा वहां के शासकों से सम्पर्क कर उन्हें नानाविध प्रजाहित के कार्यों में नियोजित करने की प्रेरणा देना राष्ट्रीय एकता की सिद्धि का ही सोपान था।

राष्ट्रीय एकता के लिये उनका एक महत्वपूर्ण प्रयास उस समय हुआ जब १८७७ ई० में लार्ड लिटन द्वारा आयोजित दिल्ली दरबार के अवसर पर उन्हों ने तत्कालीन प्रमुख धार्मिक नेताओं तथा विभिन्न प्रान्तों के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का एक सम्मेलन आयोजित किया। भारत में मुस्लिम पुनर्जागरण के अग्रदूत, मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद खां के अतिरिक्त ब्राह्म समाज के नेताद्वय -केशव चन्द्र सेन और नवीन चन्द्र राय भी इसमें उपस्थित हुये। महाराष्ट्र के हरिश्चन्द्र चिन्तामणी, पंजाब के अलखधारी और पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के मुन्शी इन्द्रमणि को भी इस में आमन्त्रित किया गया था। राष्ट्रीय एकता के महत् उद्देश्य की सिद्धि के

---

१ महाराष्ट्र के महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालराव हरिदेशमुख, तथा रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर तथा पंजाब के मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, लाला साईंदास एवं राय मूलराज आदि नेताओं से स्वामीजी ने विचार विमर्श किया। था

की यात्रा कर उसके संचालक महात्मा मुन्शीराम के समक्ष अपनी शंकाओं को प्रस्तुत कर उनका समाधान प्राप्त करना पड़ा था।

गुरुकुल कांगड़ी के ही अनुकरण पर कालान्तर में गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर, गुरुकुल वृन्दावन, गुरुकुल चितौड़गढ़, गुरुकुल झज्जर आदि की स्थापना हुई। संस्कृत और प्राचीन शास्त्रों के जितने सुयोग्य और ख्याति- प्राप्त विद्वान इन गुरुकुलों से निकले हैं तथा देश धर्म, समाज और भाषा संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में गुरुकुल के स्नातकों ने जो अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है उसका विशद और यथार्थ समीक्षण अभी भविष्यत की वस्तु है। गुरुकुल कांगड़ी के शास्त्र -मर्मज्ञ स्नातकों में पं० विश्वनाथ विद्यालंकार, पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, पं० जयदेव शर्मा, विद्यालंकार (चतुर्वेद-भाष्यकार) पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर ने दर्शनों के महान विद्वान् प० उदय वीर शास्त्री, वैदिक विद्वान डा० सूर्यकान्त, अनेक शास्त्र निष्णात डा० हरिदत्त शास्त्री, पं० देवदत्त शर्मोपाध्याय, तथा संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान् प्रसिद्ध कवि पं० दिलीपदत्त शर्मोपाध्य जैसी प्रतिमायें देश को प्रदान की हैं। गुरुकुल वृन्दावन के उल्लेख योग्य स्नातकों में स्व० पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, पं० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, तर्क शिरोमणि, साहित्य शास्त्र तथा दर्शन शास्त्र के आकर ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद और व्याख्या करने वाले स्व० पं० विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि तथा संस्कृत में दयानन्द दिग्विजय जैसे सर्व लक्षणान्वित महाकाव्य के प्रणेता महाकवि मेधव्रताचार्य के नाम उल्लेखनीय हैं।

गुरुकुलों की स्थापना के साथ साथ शतशः विद्यालय संस्कृत पाठशालाओं, प्रौढ शिक्षणालयों और रात्रि- पाठशालाओं की स्थापना और संचालन भी आर्य समाज की शिक्षा विषयक महत्वपूर्ण देन है। नारी-शिक्षा का क्षेत्र भी आर्य समाज द्वारा उपेक्षित नहीं रहा। जिस समय देश के पुराण पंथी और रूढ़िवादी लोग कन्या शिक्षण को शंका की दृष्टि से देखते थे और इसे ईसाई आचार का अनुकरण समझा जाता था, उसी समय से आर्य-समाज ने कन्याओं के सर्वोच्च शिक्षण हेतु उच्चकोटि के गुरुकुल, महाविद्यालय और कन्या कालेजों की स्थापना की। जालंधर का कन्या महा विद्यालय देहरादून और हाथरस के कन्या गुरुकुल तथा बड़ौदा का आर्य कन्या महाविद्यालय इसी प्रकार के सफल शिक्षा संस्थान हैं। आर्य समाज का करोड़ों

रुपया शिक्षा कार्य में व्यय हो रहा है और उसकी सर्वोच्च संस्थायें इन शिक्षण संस्थानों का योग्यता पूर्वक संचालन कर रही हैं। कन्या शिक्षा की ही भांति दलित वर्ग के लोगों की शिक्षा का आयोजन भी सर्व प्रथम आर्य समाज ने ही किया। पं० आत्माराम अमृतसरी ने बड़ौदा राज्य में दलित शिक्षा का जो प्रचार किया वह समाज सुधार के इतिहास की एक अविस्मरणीय घटना है।

श्री रंगा अय्यर ने आर्य समाज की शिक्षा संस्थाओं के योगदान का मूल्यांकन करते हुए ठीक ही लिखा है कि आर्य समाज के विद्यालयों का उद्देश्य राष्ट्रीयता को जागृत करना रहा है। उनके समालोचक भी यह स्वीकार करते कि वे असहयोग के दिनों में अचानक स्थापित हुये उन अल्प जीवी राष्ट्रीय विद्यालयों से भिन्न वास्तविक शिक्षण संस्थायें है।

o —— o

लिए आयोजित इस सम्मेलन की कार्यवाही का संपूर्ण विवरण आज उपलब्ध नहीं हैं परन्तु इतना निश्चित है कि स्वामी जी ने सम्मेलन में यहां कहा था-यदि हम सब लोग एक मत हो जायें और एक ही रीति से देश का सुधार करें तो आशा हैं कि देश शीघ्र सुधर सकता है" । स्वामी जी का कथन ही राष्ट्रीय एकता के लिए उनकी महती आकांक्षा का सूचक है । परन्तु सम्मेलन में उपस्थित अन्य प्रतिनिधिगण स्वामी जी के प्रस्तावों की उपयोगिता और महत्ता को अनुभव नहीं कर सके, अतः यह प्रयास निष्फल गया ।

आर्य समाज ने भी अपने संस्थापक के एतद्विषयक लक्ष्य को दृष्टि पथ से कभी ओझल नहीं होने दिया । वह देश की सर्वतोमुखी एकता के लिये बहुविध योजनायें लेकर उपस्थित हुआ । आर्य समाज मानता है कि इस देश के निवासी एक ही संस्कृति, एक ही प्रकार की भावधारा के अनुयायी आर्य हैं । स्वामी दयानन्द यह अनुभव करते थे कि भारत देश के निवासियों को 'आर्य शब्द से सम्बोधित करना अधिक गौरवास्पद, है । उनकी यह धारणा थी कि आर्य शब्द में जो चारुता, अर्थ गौरव तथा उदात्तता के भाव निहित हैं वे 'हिन्दू' शब्द में नहीं हैं । आर्य श्रेष्ठ, धार्मिक, आस्तिक एवं साधु प्रवृति के पुरुषों का परिचायक है अतः अपने आपको आर्य कहकर ही इस देश के निवासी एक उच्चतर भाव भूमि पर अधिष्ठित हो सकते हैं । इसीलिए उन्होंने इस देश को 'आर्यावर्त, देश वासियों को आर्य तथा उनकी भाषा को :आर्य भाषा' के नाम से अभिहित किया । 'आर्य शब्द की महत्ता के विषय में उन्होंने लिखा—श्रेष्ठों का नाम आर्य विद्वान देव और दुष्टों के दस्यु अर्थात् डाकू : मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुये ।[१] वस्तुतः आर्य शब्द किसी जाति या नस्ल का सूचक न होकर गुणवाचक ही हैं । यदि भारत के अधिकांश धर्मावलम्बी अपने आपको 'आर्य, कहने लगें तो उनमें परस्पर प्रेम और विश्वास की वृद्धि होगी । बौद्ध और जैन सम्प्रदाय को भी आर्य शब्द से विरक्ति नहीं है, अपितु उनके साहित्य में आर्य शब्द प्रायः प्रयोग हुआ है । इस प्रकार' आर्य शब्द के व्यापक प्रचार द्वारा राष्ट्रीय एकता का स्वर्णिम सूत्र आर्य समाज ने प्रदान किया ।

देश का नाम आर्यावर्त

जिस प्रकार उन्होंने 'आर्य' का प्रयोग भारतीय जनसमूह के लिए किया

---

१ सत्यार्थ प्रकाश : अष्टम समुल्लास

उसी प्रकार इस देश के लिए आर्यावर्त का प्रयोग करना भी समग्र राष्ट्र के लिए एक उपयुक्त अभिधान की तलाश का उत्तर था। पुरातन वैदिक साहित्य में इस देश के लिए 'आर्यावर्त' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। मनुस्मृति में आर्यावर्त का अर्थ निरूपण करते हुए कहा गया है—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशमार्यावर्तं प्रचक्षते ॥

अध्याय २।२२.१७।

हिमालय से लेकर रामेश्वर पर्यन्त और पूर्व में ब्रह्मदेश से लेकर पश्चिम में अटक नदी तक का देश अर्यावर्त के नाम से जाना जाता है। देवों अर्थात् विद्वानों द्वारा बसाये जाने के कारण भी इसे आर्यावर्त कहा जाता है। निश्चय ही इस देश के लिए आर्यावर्त का प्रयोग अधिक सांस्कृतिभावापन्न तथा गौरवपूर्ण है।

आर्यों का आदि देश भारत

आर्य समाज और उसके प्रवर्तक की यह भी मान्यता रही कि आर्य लोग इसी देश के निवासी हैं। वे कहीं अन्य स्थान से नहीं आये। वस्तुतः यूरोपीय विद्वानों का भरपूर प्रयास रहा कि वे येनकेन प्रकारेण यह सिद्ध कर दें कि आर्य लोग इस देश के मूल निवासी नहीं थे। आर्यों का आदि देश कौन सा था, इसमें चाहे सभी विद्वानों का एक मत न हो परन्तु अधिकांश विदेशी विद्वान् इस बात से तो सहमत हैं कि वे इस देश में बाहर से आये। आश्चर्य और खेद की बात है कि लोकमान्य तिलक जैसे विद्वानों ने भी ज्योतिष के कुछ सिद्धान्तों के आधार पर उत्तरी ध्रुव प्रदेश से आर्यों का भारत आगमन सिद्ध करना चाहा। स्वामी दयानन्द प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने इस बात पर बल दिया कि आर्य लोग इसी देश के निवासी थे वे कहीं अन्य स्थान से नहीं आए। वे लिखते हैं —" किसी संस्कृत ग्रन्थ वा इतिहास में नहीं लिखा कि आर्य लोग ईरान से आये और यहाँ के जंगलियों को लड़कर जय पाके, निकाल इस देश के राजा हुए, पुनः विदेशियों का लेख माननीय कैसे हो सकता है ?"

कालान्तर में स्वामी दयानन्द के मत की पुष्टि ही हुई। डॉ सम्पूर्णानन्द ने अपने 'आर्यों का आदि देश' नामक ग्रन्थ में सप्रमाण सिद्ध किया है कि भारत ही आर्यों का आदि स्थान है। प्रो० शिवदत्त ज्ञानी ने इस प्रश्न पर तर्कपूर्ण दृष्टि से विचार करने के अनन्तर लिखा—"आर्य" शब्द के सांस्कृतिक अर्थ को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि आर्यों का आदिमनिवास स्थान भारत के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकता। ऋग्वेद व संस्कृत भाषा की सहायता से जिन सुसभ्य व सुसंस्कृत आर्य लोगों के संबन्ध में विचार किया जाता है, वे भारत के ही थे, कहीं बाहर से नहीं आये। उनके प्राचीन साहित्य में उनके बाहर से आने का किंचित मात्र भी उल्लेख नहीं है और न कोई ऐसी ऐतिहासिक खोज की गई है जो इस संबंध में प्रमाण भूत हो सके। इस प्रकार कम से कम इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिन आर्यों को व जिनकी संस्कृति के महत्व को आज दुनिया मान रही है और जिस संस्कृति ने प्राचीन संस्कृतियों को प्रभावित किया था वे आर्य और आर्य संस्कृति भारत में ही पैदा हुये, फले फूले और यहीं से अन्य देशों में उन्हों-ने अपना सांस्कृतिक सौरभ फैलाया[1]।

आर्यों का राष्ट्रीय अभिवादन

सांस्कृतिक एकता के कतिपय गौण उपादान भी हैं। आर्य समाज ने ऐसे सांस्कृतिक प्रतीकों का भी व्यापक प्रचार किया। उसने 'नमस्ते, को एक राष्ट्रीय अभिवादन के रूप में प्रसारित किया। प्रचलित साम्प्रदायिक तथा अर्थ हीन अभिवादनों की तुलना में 'नमस्ते' एक ऐसी अभिवादन पद्धति है जिस में सम्बोधनीय व्यक्ति के प्रति सम्मान, प्रेम और श्रद्धा का भाव परिलक्षित होता है। एक सुखद आश्चर्य की ही बात है कि भारत के सभी वर्गों और वर्णों के लोगों ने इसे समान रूप से स्वीकार किया।

राष्ट्रीय एकता का सुदृढ़ आधार-शुद्धि और संगठन

आर्य समाज का सुदृढ़ विश्वास है कि राष्ट्रीय एकता की सिद्धि और प्राप्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक भारत की आर्य धर्मावलम्बिनी प्रजा अपने आपको सबल और सप्राण बनाकर अपने सभी घटकों को एकता के सूत्र में

---

१ भारतीय संस्कृति, पृष्ठ

न पिरोले। इस महत् उद्देश्य की सिद्धि के लिये आर्य समाज ने शुद्धि और संगठन का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। इससे पूर्व कि शुद्धि के संबन्ध में आर्यसमाज की मान्यताओं की आलोलना हम करें, यह आवश्यक है कि इस विषय की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि की जानकारी प्रस्तुत की जाय। लगभग एक सहस्त्र वर्ष पूर्व से ही भारत पर तातर, तुर्क, मंगोल अफगान और अरब जाति के मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुये। यद्यपि आक्रमणकारी मुसलमान एक सीमित संख्या में ही भारत आये थे, परन्तु थोड़े समय पश्चात् जब मुसलमानी शासको ने अपनी रीति नीति के अनुसार हिन्दू धर्म पर सांस्कृतिक आक्रमण करने की योजना को क्रियान्वित करना आरम्भ किया, यथा भारत के बहुमत समाज की धार्मिक आस्थाओं पर आघात करना, उनके पूजा स्थानों को विनष्ट करना, अन्य मतावलम्बियों पर जजिया कर लगाना तथा बलात उन्हें अपने मत में दीक्षित करना आदि तो सन्तुलन बिगडने लगा। अपने मध्यकालीन जर्जर सामाजिक ढांचे तथा अन्य आचारगत विसंगतियों के कारण इस आक्रमण का प्रतिरोध करना जब हिन्दुओ के लिए संभव नहीं रहा तो उनमें से दुर्बल संकल्प वाले व्यक्तियों ने इस्लाम को स्वीकार करलेना ही श्रेयस्कर समझा। इस्लामके दायर में प्रवेश करने वाले वे लोग भी थे जिनकी स्थिति हिन्दू समाज में समानास्पद नहीं थी जो अत्याचारों से त्रस्त, लाक्षित- प्रताड़ित तथा सर्वतोभावेन शोषित थे। इस प्रकार जब मुसलमानों का संख्या बल इस देश में बढ़ता गया और लगभग सात सौ वर्षों तक उन्होने क्रूर दमन और अनेक विध अत्याचारों के साथ देश का शासन किया तो हिन्दू समाज का मनोबल दिन प्रतिदिन गिरने लगा। वे अपने आपको सर्वथा दीन, हीन और पराधीन समझने लगे।

अंग्रेजी शासन ने भी हिन्दू समाज की स्थिति में कोई विशिष्ट परिवर्तन नहीं किया। अंग्रेज-कूटनीति हिन्दू मुसलमानों में परस्पर विरोध उत्पन्न कर अपने शासन को स्थायी बनाने की रही। फलस्वरूप हिन्दूसमाज एक अस्त-व्यस्त जीर्ण एवं मुमुर्षु अवस्था को प्राप्त जन समूह मात्र रह गया। जब कांग्रेस ने काकानाडा अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुये मौलाना मौहम्मद अली ने सात करोड़ अछूतों का विभाजन कर उन्हें हिन्दू और मुसलमानों के बीच बांट लेने की बात कही तो अन्य किसी राष्ट्रीय नेता के कान पर जूं रेंगी या नहीं, किन्तु स्वामी श्रद्धानन्द जैसे मनस्वी पुरुष ने मौलाना के इस प्रस्ताव का खुलकर विरोध किया। उसी दिन से स्वामी श्रद्धानन्द ने शुद्धि और संगठन का शंख फूंक कर हिन्दू समाज को बलवान बनाने की घोषणा की। आर्य समाज ने शुद्धि के कार्यक्रम को सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया। उसकी यह धारणा रही

है कि पुराकाल में भी जो जातियां संस्कार भ्रष्ट होकर अनार्य हो गई थीं उन्हें पुनः शुद्ध कर वृहत् आर्य समाज में सम्मिलित किया जाता था। मनुस्मृति में यह उल्लेख मिलता हैं कि ब्राह्मणों के अदर्शन से क्षत्रिय जातियां द्विजोजित संस्कारों से च्युत होकर वृषलत्व को प्राप्त हो गई। पौण्ड्रक, ओड़, द्रविड़, किरात, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्हव, चीन दरद और खश आदि नाम इन्हीं क्रिया लुप्त अनार्य जातियों के है परन्तु इन्हें पुनः आयोजित गुण-कर्मो से दीक्षित कर अपने भीतर समाविष्ट करने की शक्ति प्राचीन आर्य समाज में थी।

धीरे धीरे प्राणवान् आर्य जाति विभिन्न प्रकार के अनार्य संस्कारों को ग्रहण कर अपने आपको संकीर्ण एवं संकुचित कारा में आबद्ध करती चली गई। परिणाम यह हुआ कि अन्य मतावलम्बियों को अपने भीतर समाविष्ट करना तो दूर, उसमें स्वधर्मियों की रक्षा की क्षमता भी नष्ट हो गई। ऐसी परिस्थिति में आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने स्वयं ही अपने जीवन काल में देहरादून के मुहम्मद ऊमर नामक एक मुसलमान को वैदिक धर्म की दीक्षा दे कर 'अलखधारी' नाम प्रदान किया। भारत के राजनैतिक क्षितिज पर उदित मुस्लिम साम्प्रदायिकता के धूमकेतु को विनिष्ट करने के लिए शुद्धि और संग-ठन ही अमोघ उपाय सिद्ध हुआ।

स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में जो शुद्धि चक्र का प्रवर्तन हुआ, उसने हिन्दू समाज को सुदृढ़ और प्राणवान बनाया। यद्यपि इस कार्यक्रम के संबंध में स्वकीयों और परकीयों ने नाना प्रकार की शकायें और संदेह व्यक्त किये। लोगों की यह धारणा थी कि परमतावलम्बियों को आर्य धर्म में दीक्षित करना हिन्दू धर्म की धारणाओं के विपरीत है। राजनीतिक अभिनिवेश और पूर्वग्रह से ग्रस्त व्यक्तियों ने यह भी आशंका व्यक्त की कि यदि शुद्धि को बल मिला तो इससे मुसलमानों का भारत की राजनीतिक धारा से संबंध विच्छेद हो जायगा और साम्प्रदायिक विरोध का भाव प्रबल होगा, परन्तु आर्य समाज ने इस प्रकार की सभी आपत्तियों का निराकरण करते हुये यह सिद्ध कर दिया कि स्वाधीनता के आन्दोलन में किसी प्रकार का व्याघात न हो, इसलिये साम्प्रदायिक सौहार्द भी वांछनीय वस्तु हैं, किन्तु हिन्दुओं को शुद्धि के मौलिक अधिकार से वंचित करना उचित नहीं। स्वामी श्रद्धानन्द तथा महात्मा हंसराज के नेतृत्व में मल कानों की शुध्दि की गई जो नव मुस्लिम थे तथा आचार विचार की दृष्टि से राजपूतों से अधिक भिन्न नहीं थे।

निश्चय ही आर्य समाज का शुद्धि आन्दोलन राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता का सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करता हैं।

यहां हमने राष्ट्रीय एकता के कुछ ऐसे तात्विक सूत्रों का उल्लेख किया है जिनके आधार पर इस देश की सर्वांगीण एकता को सुदृढ और स्थायी बनाया जा सकता है। आज भारत के राजनैतिक वातावरण में पुनः राष्ट्रीय एकता की महत्ता और आवश्यकता की चर्चा पर बल दिया जाने लगा हैं, परन्तु इसे प्राप्त करनेके व्यावहारिक उपायों की ओर किसी का ध्यान नहीं है। साम्प्रदायिक तुष्टिकरण, क्षेत्रीयता के आधार पर देश की विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयों को प्रोत्साहन, प्रान्तवाद, भाषावाद और जातिवाद के कीटाणुओं को फैलाने की नियोजित चेष्टाओं के रहते राष्ट्रीय एकता एक ऐसा स्वप्न ही बना रहेगा जिसे साकार करना असम्भव है। आर्य समाज ने ही राष्ट्रीय एकता की सिद्धि के लिए कुछ ऐसे स्वर्णिम सूत्र उपस्थित किये हैं जिन्हें क्रियान्वित करना आवश्यक है।

अध्याय-९

आर्यसमाज के आन्दोलन का भावी रूप

(अ) धार्मिक क्षेत्र में

आर्य समाज मूलत: एक धार्मिक संस्था है। उसने धर्म का सार्वभौम स्वरूप मानव जाति के सम्मुख प्रस्तुत किया। धर्म को अपने उदात्त स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आर्य समाज को ही है। उसने धर्म और मत- सम्प्रदाय के अन्तर को स्पष्ट किया। मानव के सार्वत्रिक अभ्युत्थान के लिये जो कृत्य किये जाते हैं वे ही धर्म के मूलभूत तत्व हैं अत: मनुष्य मात्र के लिए वे समान ही है। इस प्रकार आर्य समाज ने मानव धर्म का ही प्रतिपादन किया जो जाति, वर्ण और राष्ट्र के आधार पर मनुष्य जाति का विभाजन नहीं करता ? सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास में इसी धर्म की मूलभूत एकता का सुचिन्तित स्वरूप प्रस्तुत करते हुये स्वामी दयानन्द लिखते है —"धर्म सबका एक होता हैं वा अनेक। जो कहो अनेक होते है तो एक दूसरे से विरुद्ध होते है वा अविरुद्ध। जो कहो कि विरुद्ध होते हैं तो एक के बिना दूसरा धर्म नहीं हो सकता और जो कहो अविरुद्ध हैं तो पृथक् २ होना व्यर्थ है। इसीलिये धर्म और अधर्म एक ही है अनेक नहीं।" पुन: एक जिज्ञासु के विभिन्न सम्प्रदायाभिमानियों से वार्तालाप का दृष्टान्त उपस्थित कर धर्म के मौलिक तत्वों की एकता का प्रतिपादन करते हुए स्वामी जी ने लिखा, तब वह (जिज्ञासु) उन सहस्रों (साम्प्रदायिक लोगों) की मण्डली के बीच खड़ा होकर बोला कि सुनो सब लोगों। सत्य भाषण में धर्म हैं वा मिथ्या में ? सब एक स्वर होकर बोले कि सत्य भाषण धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में धर्म और विद्या ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने व्यभिचार करने, कुसंग आलस्य असत्य व्यवहार छल, कपट हिंसा, परहानि करने आदि कर्मों में सबने एक मत होकर कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में- अधर्म।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्य समाज का धर्म विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक तथा उदार है। उसकी यह सुदृढ धारणा है कि धर्म के प्रत्येक मन्तव्य, सिद्धान्त और क्रिया का बौद्धिक एवं तर्क संगत आधार होना चाहिये।

यदि किसी भी धार्मिक नियम या इति कर्तव्य को बुद्धि एवं युक्ति की कसौटी पर खरा सिद्ध नहीं किया जा सकता तो उसे स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। इस प्रबल बुद्धिवादी दृष्टिकोण का एक परिणाम यह निकला कि आर्य समाज से धार्मिक प्रश्नों पर वाद प्रतिवाद करने वाले विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपनी मान्यताओं को अधिकाधिक बुद्धि ग्राह्य, युक्ति संगत तथा वैज्ञानिक बनाने की चेष्टा की। पुराणों में वर्णित विभिन्न कथाओं, उपाख्यानों तथा अतिरंजना पूर्ण घटनाओं को आलंकारिक कहा जाने लगा और बुद्धि गम्य व्याख्यायें की जाने लगी। उनके स्थूल अर्थों को अस्वीकार करना तो एक सामान्य सी बात हो गई है। पुराण गाथाओं का रूपकात्मक अर्थ करना इतना सामान्य हो गया कि जैन पुराणों में जो नाना असम्भव, अवैज्ञानिक तथा बुद्धि विरुद्ध बातें दिखाई देतीं थीं, वे या तो सामान्य सी पाठकों की दृष्टि से ओझल ही रखी जाने लगी अथवा उनके अन्य प्रकार के अर्थ किये जाने लगे। ईसाई शास्त्रों तथा इस्लामी ग्रन्थों की व्याख्या भी बौद्धिक दृष्टि से होने लगी। सर सैयद अहमद कृत कुरान की व्याख्या तथा मौलाना अबुल कलाम आजाद कृत तफसिरा-कुरान इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि आर्य समाज कृत मत मतान्तरों की आलोचना का रचनात्मक पक्ष यही था कि साम्प्रदायिक अभिनिवेश रखने वाले पण्डित और पादरी, मुल्ला और मौलवी भी अपनी मान्यताओं को बुद्धिग्राह्य और वैज्ञानिक सिद्ध करने लगे।

धर्म के क्षेत्र से अंध विश्वासों को दूर करना आर्य समाज की एक अन्य उपलब्धि थी। उसने यह स्पष्ट किया कि अंध विश्वासों, रूढ़ियो और मिथ्या चारों का पुंज धर्म नहीं। अतः धार्मिक क्रिया काण्डों के नाम पर जो विभिन्न उल्टे सीधे कर्म प्रचलित थे उनकी महत्ता समाप्त हुई और धर्म मनुष्य की नैतिक और आचार गत मान्यताओं का पर्याय समझा जाने लगा। जिन सम्प्रदायों में वाह्य क्रिया जालों का वाहुल्य था, वे भी यह कहने लगे कि किसी कर्म विशेष का सम्पादन ही धर्म नहीं है अपितु मनुष्य अपनी सर्वांगीण उन्नति जिन गुणों का धारण करने से करता है, वे ही धर्म है। इसका एक प्रत्यक्ष परिणाम यह निकला कि मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ यात्रा, व्रतोपवास, साम्प्रदायिक चिन्ह धारण आदि मध्यकालीन आचारों को ही धर्म का मौलिक तत्व कहने में लोगों को संकोच होने लगा। इस प्रकार धर्म को आस्थाओं और विश्वासों का पुंज मात्र मानने का आग्रह समाप्त हुआ और सत्य अंहिसा, न्याय, दया, आस्तिकता, सर्वभूत हित आदि सार्वजनीन नैतिक गुण ही धर्म के आत्मा स्थानीय माने जाने लगे।

प्रचलित हिन्दू धर्म के सैद्धान्तिक और संगठनात्मक ढांचे को आर्य समाज ने सर्वथा परिवर्तित स्वरूप प्रदान किया। जो धर्म अन्य मतावलम्वी समालोचकों की समालोचना को सहन करने में असमर्थ समझा जाता था वह अपनी विकृतियों और दुर्बलताओं को छोड़कर चट्टान की भांति सुदृढ़ हो गया। आर्य समाज ने हिन्दू धर्म की मान्यताओं की वैज्ञानिक एवं तर्क संगत व्याख्या करते हुये उसे विश्व धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसमें जो बुद्धि विरुद्ध बातें समाविष्ट हो गई थी उन्हें पृथक् किया गया। अब तक विधर्मी प्रचारक हिन्दू धर्म को अपनी आपत्तियों और आलोचनाओं का ही शिकार बनाते आये थे और हिन्दू धर्म के पुरस्कर्त्ता भी सम्भवत: अपनी हीन भावना के कारण यह मान बैठे थे कि इन आलोचना पूर्ण कटूक्तियों के निराकरण की क्षमता उनमें नहीं है। आर्य समाज ने धर्म के बुद्धिग्राहय स्वरूप को प्रतिष्ठित किया तथा हिन्दू धर्म के अनुयायियों में एक सहज आत्म विश्वास का भाव उत्पन्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अब भारतीय परम्परागत अपनी कमजोरियों को दूर कर सशक्त आधार पर खड़े होने का उत्साह प्राप्त कर सका, साथ ही उसने आक्षेप कर्त्ताओं की मान्यताओं और विश्वासों के खोखले पन को भी अनुभव करने की शक्ति प्राप्त की। जो हिन्दू अब तक अपने आचारों और विश्वासों के कारण विधर्मियों की आलोचनाओं का ही शिकार बनते आये थे, अब प्रतीकारात्मक ढ़ंग से ईसाई और मुसलमान मजहबों की असंगत, अवैज्ञानिक धारणाओं का खण्डन करने में समर्थ हुये। उनमें एक अभूतपूर्व आत्म विश्वास पैदा हुआ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध है कि धर्म को विश्वजनीय अर्थवत्ता प्रदान कर उसे मत-सम्प्रदायों की संकुचित परिधि से पृथक करना, बुद्धिवाद के अधार पर धर्म के मौलिक स्वरूप की व्याख्या करना तथा आर्यावर्तीय धर्म चिंतन के परिष्कार और सुधार के द्वारा उसे सुसंगत, सुदृढ़ तथा आत्म विश्वास सम्पन्न रूप देना आर्य समाज के धर्मान्दोलन की चरितार्थता थी। निश्चय ही आर्य समाज धर्म के क्षेत्र में क्रान्ति और परिवर्तन का प्रतीक था।

यह सब तो तस्वीर का एक पहलू है। देखना यह भी होगा कि यदि आर्य समाज ने धर्म के परिष्कार का श्लाघनीय प्रयत्न किया तो साम्प्रदायिक काल में धर्म के नाम पर पाखण्ड, ढोंग और आडम्बरों की वृद्धि क्यों हो रही है? इसी परिप्रेक्ष्य में हमें आर्य समाज के वर्तमान कार्य क्रम का निर्धारण करना होगा। यद्यपि आर्य समाज ने धर्म का तात्विक आधार बुद्धिवाद, तर्क-मूलकता तथा

वैज्ञानिकता को माना था,फिर भी हम देखते है कि आज भी विभिन्न मत, पंथ तथा सम्प्रदाय धर्म के स्थान पर अपना वर्चस्व स्थापित कर रहे हैं। साधारण अपठित व्यक्तियों की तो बात ही छोड़िये, प्रबुद्ध वर्ग के लोग भी धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़ियों, अंध विश्वासों और मिथ्याचारों के शिकार हो रहे हैं। ढोंग और पाखण्ड के नवीन क्षितिज उभर रहे है। जड़-पूजा का प्रचलन बढ़ रहा है। तीर्थों और व्रतोपवासों के माहात्म्य आज भी लोगों को आकर्षक प्रतीत हो रहे हैं। मंदिरों और मठों का ऐश्वर्य और वैभव भक्तों को आतंकित और प्रभावित तो करता ही है उनके स्वामी मठाधीशों और सम्प्रदाचार्यों का गर्व और अहंकार भी उसी अनुपात में स्फीत हो रहा है।

साम्प्रदायिक धारणाओं मान्यताओं की वृद्धि इस बात का सुनिश्चित प्रमाण है कि आर्य समाज को धार्मिक क्षेत्र में पूर्ण शक्ति और उत्साह के साथ पुनः अवतरित होना होगा। धर्म के नाम पर पाखण्डों की जो वृद्धि विगत दो दशाब्दियों में हुई है उसके विभिन्न रूप है। प्रथम कतिपय ऐसे नवीन सम्प्रदाय उभर कर जन-मन को आक्रान्त और प्रभावित कर रहें हैं जिनका मूल भारत की धार्मिक परम्पराओं और दर्शन में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरणार्थ, देश विभाजन के पूर्व ही सिंध में दादा लेखराज खूबचन्द कृपलानी नामक व्यक्ति ने ओम मण्डली की स्थापना की और देश के स्वतंत्र होने के पश्चात् आबू पर्वत को केन्द्र बनाकर ब्रह्माकुमारी संस्था के नाम से उसका संचालन करने लगा। इस संस्था के सिद्धान्त और मन्तव्य विचित्र और हायास्यापद होते हुये भी अनेक भोले भाले स्त्री पुरुषों को आकर्षित करते है। ब्रह्माकुमारी संस्था की मान्यता हैं कि सृष्टि की आयु समाप्त प्रायः है और शीघ्र ही मानव जाति का विनाश हो जायगा। यहां ब्रह्मा और शिव कल्पना मनमाने ढंग से की गई है और संस्था के प्रवंतक को ही 'पुराण पुरुष आदि ब्रह्मा' कहा गया हैं। राम और कृष्ण की प्रख्यात कथाओं को ब्रह्माकुमारियों ने यथेच्छ परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किया है। विचित्र बात तो यह है कि अपनी धारणाओं को तर्क संगत ढंग से प्रस्तुत न कर पाने अथवा वाद-विवाद में शीघ्र ही निरस्त हो जाने की आशंका के कारण इस संस्था के लोग अपनी मान्यताओं को कल्पित चित्रों, चार्टों और नक्शों के माध्यम से ही प्रस्तुत करते हैं शायद वे अनुभव करते है कि दृश्य साधनों का प्रभाव मानव मन पर कहीं गहरा होता है।

इसी प्रकार रेलवे के एक भूतपूर्व कर्मचारी प्रभात रंजन सरकार द्वारा स्थापित आनन्द मार्ग प्रेमपालसिंह रावत उर्फ बाल योगेश्वर की डिवाइन-

लाइट सोसाइटी आदि भी धर्म के नाम पर जिन पाखण्डों और मूढ़ताओं की सृष्टि कर रहे हैं, उन्हें देखकर एक ओर तो मनुष्य की सहज ही आतंकित तथा प्रभावित होने वाली बुद्धि पर खेद तथा आश्चर्य होता है, साथ ही यह जानकर और भी पीड़ा होती है कि इन सम्प्रदायों और संगठनों में अपठित जनता की अपेक्षा पठित और प्रबुद्ध वर्ग के लोग ही अधिकाधिक सम्मिलित हो रहे हैं।

पाखण्ड का एक भिन्न रूप भी है आचार्य रजनीश जैसे लोग जो अपने क्रान्तिकारी (?) चिन्तन और वाक्‌चातुर्य पूर्ण प्रवचनों के द्वारा पठित लोगों में ऐसी विचार धारा के बीज बो रहे हैं जो अब तक की संपूर्ण मान्यताओं, आस्थाओं तथा विश्वासों का तिरस्कार कर अपने आपको एक सर्वथा अभिनव रूप में प्रस्तुत कर रही हैं। अब तो अन्य कलियुगी अवतारों और भगवानों की भाँति रजनीश भी भगवान के गौरवास्पद अभिधान को ग्रहण कर चुके हैं तथा प्रचलित मर्यादाओं और सामाजिक रीति नीति का खुल्लम खुल्ला उल्लघन और बहिष्कार ही उनके समग्र चिंतन का निचोड़ प्रतीत होता है। सत्य साँई बाबा की भगवदीयता तो राजनीतिज्ञों, प्रशासकों, प्राध्यापकों तथा अन्य पठित वर्ग के लोगों में एक सर्व स्वीकृत तथ्य बन चुकी है। उनके दर्शनों और प्रवचनों में जो अपार जन समूह उमड़ पड़ता है उसे देखकर तो यह धारणा बंधती है कि यदि हमारे पौराणिक मत के मान्य राम और कृष्ण जैसे साक्षात् अवतार माने जाने वाले महापुरुष भी धराधाम पर अवतीर्ण हो जाये तो उनके दर्श-नार्थ इतना जन सम्मद एकत्रित नहीं होगा, जितना सत्य साई के वचनामृत का पान करने अथवा उनके जटाजाल से निसृत विभूति को ग्रहण करने के लिये इकट्‌ठा होता है।

हमारे कथन का निचोड़ यह है कि वैज्ञानिक युग में धर्म के नाम पर पाखण्ड और मूढ़ता भी वैज्ञानिक बाना पहन कर ही अवतरित हो रहे है। आज के ये तथाकथित गुरु और भगवान् महानगरों की गगन चुम्बी अटटालिकाओं में कोट्याधीशों का आतिथ्य स्वीकार करते हैं, जम्बो जेट वायुयानों से भ्रमण करते हैं, गौराग'ना शिष्याओ के विशाल परिकर को साथ रखकर योग और अध्यात्म का प्रवचन करते है। इनके प्रवचन टेप रिकार्डो द्वारा प्रचारित किये जाते है। वैज्ञानिक युग के अनुकूल ही विज्ञान के सभी उपलब्ध साधनों का प्रयोग करते हुये जैट युग के संन्यासी और साधु बनकर जन-मन को आतंकित और प्रभावित करते हैं।

तो फिर आर्य समाज क्या करे ? योग और अध्यात्म के नाम पर बढ़ रहे पाखण्डों को रोकने के लिए आर्य समाज के धर्मान्दोलन की भावी परिकल्पना क्या हो ? यह एक गम्भीर विचारणीय प्रश्न है। आज धर्म, योग, अध्यात्म मनुष्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकतायें बन गई हैं। भौतिक समृद्धि की चरम सीमा जो योरप और अमरीका में सर्वत्र दृष्टि गोचर हो रही है, मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकीं। भौतिक सुखोपभोग के विभिन्न साधन जुटा कर भी पश्चिम का मानव मानसिक शान्ति और सौमनस्य प्राप्त करने में असफल रहा। परिणाम यह हुआ कि अध्यात्म और धर्म के नाम पर जो भी उसे शान्ति और सुख देने की बात करता है, वही उसका गुरु त्राता और मार्गदर्शक बन जाता हैं। यहीं कारण है कि योग के नाम पर त्राटक जैसी साधारण क्रियायें, विभिन्न योगासनों के व्यायाम और ध्यान के नाना रूपों की शिक्षा देकर पश्चिम के लोगों को बहकाया जाने लगा। आज योग के नाम पर योरुप और अमेरिका में दुकानदारी चल पड़ी है। योग के विभिन्न प्रशिक्षण केन्द्र खुल गये हैं। परन्तु महर्षि पतंजलि द्वारा उपदिष्ट अष्टांग योग तथा क्रिया-योग की तो बात दूर रही, यौगिक साधना के आधार भूत,यम नियम आदि की साधना तथा मन के वशीकार के अन्य प्रयत्नों की सर्वथा उपेक्षा की जा रही हैं। योग के ये तथाकथित उपदेष्टा और उपदेश-ग्रहण-कर्त्ता दोनों ही अनधिकारी सिद्ध हो रहें हैं।

ऐसी परिस्थिति में आर्य समाज अपना कर्तव्य निर्धारित करे। उसका सम्पूर्ण बल धर्म और अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप के प्रतिपादन और प्रचार में लगना चाहिए। यदि आर्य समाज के धर्मोपदेष्टा धर्म के आधारभूत मौलिक तत्वों की एकता का प्रतिपादन करते हुये उसके आनुषंगिक अध्यात्म और योग का वास्तविक स्वरूप निरुपित करें तो निश्चय ही देश-विदेश का जिज्ञासु वर्ग उस ओर आकर्षित होगा। अतः यह आवश्यक है कि—

(१) वैदिक धर्म के मौलिक मन्तव्यो को सारगर्भित, सरल, एवं बोध प्रद भाषा में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाय।

(२) अन्यान्य मतों की अंध धारणाओं एवं मूढ़ आस्थाओं की तिक्तता पूर्ण शैली में आलोचना करने की अपेक्षा वैदिक संस्कृति के उदात्त स्वरूप को ही ओजस्वी शैली में उपस्थित किया जाय।

(३) प्रचलित अंध विश्वासों तथा रूढ़ियों से होने वाले व्यष्टिगत एवं समष्टि गत दुष्परिणामों को उजागर किया जाना आवश्यक है। साथ ही उनकी

अवैज्ञानिकता तथा हानि कर प्रवृत्ति को भी स्पष्ट किया जाना चाहिए।

(४) वैदिक दर्शन औपनिषदिक अध्यात्म तत्व, रामायण- महाभारत में उप दिष्ट आर्य जीवन के लोकोत्तर आदर्श तथा मनुस्मृति, भगवद्‌गीता योग दर्शन आदि की सार्वभौम जनोपयोगी शिक्षाओं का विशद सार गर्भित विवेचन व्याख्यानों,कथा प्रवचनो तथा लेखन के विविध माध्यमों से किया जाना आवश्यक है।

आज भी धार्मिक जिज्ञासा की शान्ति के लिए अपार जन-समूह आर्यसमाज की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहा है तथा वास्तविक धर्म के निरूपण की उससे अपेक्षा रखता है।

(आ) सामाजिक क्षेत्र में

एक विगत अध्याय में हम देख चुके हैं कि भारतीय समाज को सुगठित एवं शक्तिशाली बनाने के लिए आर्य समाज ने अन्यतम प्रयास किये। प्रचलित विघटनकारी जाति- व्यवस्था के स्थान पर गुण-कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था की स्थापना आर्यसमाज के सामाजिक कार्य क्रम का नितान्त महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। समाज में व्याप्त विभिन्न हानिकर प्रथाओं और कुरीतियों को दूर करने की चेष्टा भी की गई। अस्पृश्यता निवारण, नारी उत्थान, बाल विवाह आदि का निवारण, विधवाओं की दशा का सुधार आदि के कार्यों में उसे सफलता भी मिली है। तथापि समाज के क्षेत्र में अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है। यह कहना संभव नहीं है कि सुधार के क्षेत्र में जिस लक्ष्य को सम्मुख रखकर आर्य समाज ने कार्य किया था, उसमें उसे पूर्ण सफलता मिल गई है। आज भी सामाजिक वैषम्य समाप्त नहीं हुआ है, जात पाँत के दलदल से निकलकर हिन्दू समाज एक सुसंगठित इकाई के रूप में अपने आप को सुसम्बद्ध नहीं कर सका है। अस्पृश्यता तथा भेद भाव की भावना कुछ नवीन रूप धारण कर अधिक तीव्र हो उठी है। विवाह आदि सामाजिक समारोहों में तड़क-भड़क,टीप-टाप तथा अपव्य की बुराइयाँ नित्य प्रति बढ़ रही हैं। दहेज प्रथा अपना सर्व ग्रासी रूप धारणकर मध्यवित्त हिन्दू समाज को खोखला बना रही हैं।

आर्यसमाज ने अपने जीवन की प्रथम अवधि में सामाजिक क्रान्ति के लिए जो कुछ किया उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। तथापि इस क्षेत्र में अभी बहुत

कुछ कार्य अवशिष्ट है। निम्न बिन्दुओं में हम आर्य समाज के सामाजिक आन्दोलन के भावी स्वरूप की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकते हैं —

(१) मानव-समाज को सुसम्बद्ध तथा पूर्ण प्रणाली से गठित करने के लिए आर्य समाज ने वर्ण व्यवस्था के प्रावधान को स्वीकार किया था। समाज के सर्वतोमुखी विकास तथा कायाकल्प के लिए इस व्यवस्था का क्रियान्वयन आवश्यक हैं। परन्तु जब तक जन्म पर आधारित जाति–व्यवस्था समाप्त नहीं हो जाती, तब तक वर्ण व्यवस्था का गुण कर्म पर आधारित स्वरूप भी कल्पना लोक की ही वस्तु रहेगी। जाति व्यवस्था का उन्मूलन जन - शिक्षण की अपेक्षा संवैधानिक नियमों से हो सकता हैं यद्यपि भारतीय संविधान में जाति के आधार पर भेद भाव करने तथा किसी को उसके अधिकारों से वंचित करने को दण्डनीय माना गया हैं, तथापि शताब्दियों से व्याप्त इस राजरोग से अनायास ही मुक्त होना अतिशय दुष्कर है। आर्य समाज जात पांत उन्मूलन जन शिक्षण का वृहत् आन्दोलन संचालित करे, परन्तु ऐसा करने से पूर्व उसे स्वयं अपने में व्याप्त जातिगत भेद भाव को दूर करना होगा। अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करने, अन्तप्रान्तीय वैवाहिक संबंधों को बढ़ावा देने, जातीय सभा सम्मेलनों को निरुत्साहित करने, जाति सूचक शब्दों का प्रयोग अपने नामों के आगे न करने जैसे कतिपय कार्यक्रमों के द्वारा जातिगत वैषम्य को दूर किया जा सकता है। यह तो निश्चित है कि अधिकाधिक सामाजिक प्रगति तथा लोक शिक्षण के द्वारा ही जाति भेद को समाप्त किया जाना संभव है। आर्य समाज अभी तक धार्मिक सिद्धान्तों की एकता पर आधारित समाज तो बना परन्तु अन्यान्य सामाजिक विषयों में वह जातिगत भेदभाव को नष्ट नहीं कर सका। साप्ताहिक सत्संग अथवा समाज के वार्षिकोत्सवों में तो आर्य समाज के सभासदों की सामाजिक भावना दृष्टिगोचर होती है, परन्तु ज्यों ही वे समाज मंदिर को छोड़कर अथवा उत्सव के पण्डाल का त्याग कर अपने गृह या परिवार में आते है, वे वृहत्तर आर्य समाज के एक घटक न रहकर संकीर्ण जाति के एक सदस्य मात्र रह जाते हैं।

(२) अस्पृश्यता को समाप्त करने तथा दलित जातियों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष की सिद्धि के लिए आर्य समाज का प्रयत्न पूर्णतया

प्रशस्ति योग्य रहा है। आर्य समाज ने दलित वर्ग में व्याप्त कुरीतियों और बुराइयों से तो उन्हें मुक्ति दिलाई ही, उसकी यह भी चेष्टा रही कि इस वर्ग के लोग अपना सार्वत्रिक सुधार करें। शिक्षा एवं संस्कारों के द्वारा वे विस्तृत आर्य समाज के उपयोगी घटक बने। फलत: उनमें प्रचलित मदिरापान, मांस भक्षण, दुर्व्यसन तथा अन्य सामाजिक कुप्रथाओं का उन्मूलन करने का प्रयास किया गया। आज परिस्थितियां बदल गई हैं। राजनीतिज्ञों ने अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए दलित जातियों को राजनैतिक और संवैधानिक अनेक विध संरक्षण प्रदान किये हैं। यदि इन संरक्षणों का प्रयोजन पिछड़ी एवं दलित जातियों का हित साधन हो, तब तो अधिक आपत्ति नहीं है, परन्तु आपत्ति तब उपस्थित होती है हम जब देखते हैं कि शिक्षा, नौकरी चुनाव तथा अन्य संस्थाओं में इन जातिओं के लोगों के अधिकारों और स्थानों को सुरक्षित रखने के बहाने राजनैतिक दल अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते है। पिछड़े और अनुसूचित वर्ग के लोग विभिन्न राजनैतिक दलों का साथ तभी दे सकते है जब वे यह अनुभव करें कि हमें प्रदान किये जाने वाले आरक्षणों और संरक्षणों की अवधि पर्याप्त समय तक बढाई जाती रहे। इस प्रकार उन्हें न अपने अभ्युत्थान की चिन्ता होगी और न उनके मतों को प्राप्त कर विधान सभाओं तथा लोक सभा में राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने वाले राजनैतिक दल भी कभी चाहेगे कि दलित वर्ग के लोग उनके चंगुल से निकल सकें।

आर्य समाज इस प्रकार की राजनीतिक तथा कूटनीतिक दुरभि संधियों से सदा मुक्त रहा हैं। दलित जातियों के सुधार में उसका कोई स्वार्थ नहीं रहा। वह उन्हें हरिजन अथवा कोई नया नाम देकर वृहत् हिन्दू समाज से उनकी ईकाई को पृथक् करना भी नहीं चाहता। वह तो यह अपेक्षा करता हैं कि शताब्दियों से शोषित, पीड़ित एवं त्रस्त, समाज के ये घटक भी शिक्षा, संस्कृति तथा सुधार के द्वारा अन्य उन्नत वर्गों के समान बन जाय। अत: उनमें व्याप्त दुर्व्यसनों और कुरीतियों के उन्मूलन पर उसका बल अधिक है। आर्य समाज का यह सुविचारित मत है कि केवल राजनैतिक अथवा संवैधानिक अधिकार प्रदान करने तथा संरक्षण देने से इन जातियों में अपेक्षित सुधार नहीं होगा। यद्यपि भारतीय संविधान को लागू हुये चौथाई शताब्दी से अधिक समय व्यतीत हो गया है, किन्तु दलित वर्ग की सामाजिक, तथा सांस्कृतिक दशा में कोई उल्लेखनीय सुधार दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसके विपरीत देश के कोने कोने से ऐसे समाचार यदा कदा आते रहते है जिनमें हरिजन वर्ग

पर होने वाले क्रूरता पूर्ण दमन और अत्याचारों की त्रासदायक घटनाओं का वर्णन रहता है। आर्य समाज के लिए यह एक महत्वपूर्ण चुनौती है जिस संस्था ने लगभग एक शताब्दी पूर्व ही निस्वार्थ भाव से दलितों की उन्नति का कार्य किया, तथा उन पर होने वाले अत्याचारों का विरोध किया, आज वह मूक भाव से दलितों पर होने वाले अत्याचारों और अन्यायों को देखती रहे तथा उनका प्रतिकार करने में असमर्थता अनुभव करे, यह सर्वथा अकल्पनीय है।

अतः आर्य समाज का भावी कर्त्तव्य इस बात की अपेक्षा रखेगा कि दलित वर्गों पर होने वाले अन्याय और अत्याचार को अविलम्ब बंद कराया जाय। जबसे राजनैतिक दलों ने दलित वर्ग को राजनैतिक अधिकारों के प्रति उन्मुख किया है। तब से आर्य समाज से उनका जीवित सम्पर्क भी टूट गया। फलतः शिक्षा, सुधार, तथा दुर्व्यसनों को दूर करने के अभियानों को भी क्षति पहुंची। आर्य समाज सही रूप में यह अनुभव करता है कि अनन्त काल तक राजनैतिक और आर्थिक सुविधायें प्रदान करने अथवा राजकीय सेवाओं में स्थान सुरक्षित रखने से समस्या हल नहीं होगी। आवश्यकता इस बात की है कि दलित वर्ग को समुनन्त करने की सर्वविध चेष्टा की जाय ताकि वे स्वयं ही उच्च वर्णस्थों के बराबर हो सके। पृथक् हरिजन छात्रावासों की स्थापना कर तथा दलितों के पृथक् मुहल्ले बसाकर तो उनमें अलगाव के भावों को बढ़ाया ही जाता है। आर्य समाज अपने सर्वजनोपयोगी एवं लोकतांत्रिक स्वरूप का परिचय यदि दलित वर्ग के लोगों को दे तो यह निश्चित है कि वे आर्य समाज की ओर आकृष्ट होंगे और उसके सर्वोदय वादी कार्य क्रमों में भाग ले कर अपने को सबल, समुन्नत तथा समाज का एक महत्वपूर्ण अंग बनाने में समर्थ होंगे।

(३) नारी कल्याण के लिए आर्य समाज के महत्वपूर्ण योगदान का ऐतिहासिक मूल्यांकन हो चुका है। परन्तु २० वीं सदी की नारी तो पुरुष को प्रतिस्पर्धा की दौड़ में परास्त कर कहीं आगे बढ़ जाना चाहती है। आज नारी स्वतंत्रता के जो अत्याधुनिक आन्दोलन यूरोप और अमेरिका में चले है उनका न्यूनाधिक प्रभाव भारतीय नारी पर भी पड़ा हैं। वह अपनी शालीनता, सौम्यता, मर्यादा और गरिमा को सामन्त वादी समाज के अवशिष्ट कुसंस्कार मानकर स्वच्छन्दता, उच्श्रंखलता मर्यादा हीनता तथा चांचल्य को ही नारी के लिये ग्रहणीय मानती है

ऐसी परिस्थिति में क्या आर्य समाज का यह दायित्व नहीं है कि वह भारतीय नारी को उसके गौरव का पुनः स्मरण कराता हुआ यह अनुभव करने का अवसर प्रादन करे कि अनावश्यक प्रतिस्पर्धा तथा पश्चिमी आदर्शों की चाकचिक्य पर मुग्ध होकर उन की प्राप्ति हेतु बेतहाशा दौड़ उसके लिये हानिकारक है। नारी के वैदिक कालीन गौरव और उसकी पुराकालीन प्रतिष्ठा को मात्र शाब्दिक स्तुति मानने वाली आधुनिका नारी को यह भी बताना आवश्यक है कि केवल फैशन की गुलाम बनकर पश्चिमी समाज कुसंस्कारो का अंधानुकरण उसके लिए घातक हैं। भारतीय नारी का उदात्त स्वरूप उसके माता, भगिनी और पत्नी के रूप में प्रतिष्ठित होने में ही हैं, न कि गृहस्थी की प्राचीरों को तोड़कर निरंकुश जीवन यापन करने में ।

(४) सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि समाज के ढाचे को खोखला बनाने वाले तथा परिवारों की आर्थिक दुर्दशा के उत्तरदायी उन रूढ़ियों तथा रीति रिवाजों के खिलाफ सशक्त आवाज उठाई जाय तो विवाहों में अपव्यय, भारी दहेज, फैशन परस्ती आदि के रूप में प्रचलित है। विवाह तथा अन्य सामाजिक एवं पारिवारिक समारोहों को सादगी के साथ सम्पन्न करने का अभियान दशाब्दियों पूर्व ही आर्य समाज ने चलाया था। आतिश बाजी,वैश्या नृत्य मदिरापान आदि हानि कारक रूढ़ियां तो समाप्त हुई परन्तु उनका स्थान कतिपय अन्य बातों ने ले लिया है। विवाहों को मितव्ययता पूर्वक सम्पन्न कराना आज के सामाजिक कार्यक्रमों का महत्व पूर्ण अंश है। इसमें हमें अन्य धर्मों में प्रचलित सामूहिक विवाह की परिपाटी को स्वीकार करने में भी संकोच नहीं करना चाहिए। समाज मन्दिरों में ही विवाहों का आयोजन हो, दहेज और लेनदेन को सर्वथा समाप्त किया जाय तथा दिखावे, फैशन एवं आडम्बर की प्रवृत्तियों को निरुत्साहित किया जाये।

समग्र रूप से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि समाज-सुधार के क्षेत्र में कार्य करने की अपार सम्भावनाएं आर्यसमाज के सम्मुख हैं। उसने अतीत काल में सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और भविष्य में भी यह कार्य उसी के द्वारा सम्भव है। कारण स्पष्ट है। राजनैतिक दल अपनी लोक संग्रही प्रवृत्ति के कारण समाज सुधार के

क्रान्तिकारी कदम नहीं उठा सकते। मुस्लिम सामाजिक कानूनों में परिवर्तन करने की अपनी असमर्थता शासक दल ने स्पष्ट घोषित कर दी हैं। यह इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि राजनीति पटु लोगों को समाज और राष्ट्र के व्यापक हित से उतना लगाव नहीं है, जितना अपने दलीय स्वार्थो की पूर्ति से। परन्तु आर्य समाज तो आज भी समाज सुधार का शंखनाद करने में उतनी ही तत्पर और सचेष्ट है जितनी वह पहले था।

आर्य समाज और चरित्र निर्माण

आर्य समाज वस्तुतः एक चरित्र निर्माण का आन्दोलन है। उसके सदस्य यदि किन्हीं विश्वासों या आस्थाओं के पुंज मात्र होने में ही अपना संतोष कर ले, तो यह पर्याप्त नहीं हैं। अपने एक शताब्दी के इतिहास में आर्य जनों ने सेवा, सहायता तथा लोकोपकार की प्रवृति को साकार किया, साथ ही अपने आदर्श चरित्र द्वारा अन्य लोगों के समक्ष निर्व्यसन, सेवा-भाव परायण, सरल एवं त्यागमय जीवन का नमूना भी उपस्थित किया। आर्य समाजियों के सेवा और त्याग के दृष्टान्त आज भारतीय समाज के इतिहास में सुविदित है। प्लेग महामारी, अकाल, बाढ़ आदि दैवी विपत्तियों के अवसरो पर आर्य समाज के निर्भीक कार्यकर्ताओं ने पीड़ित जन-समाज की सहायता कर अपनी सेवा परायणता का आदर्श प्रस्तुत किया। चरित्र विनाशक मदिरापान, फैशन परस्ती, भ्रष्टाचार, दुराचार आदि को दूर करने के लिए भी आर्य समाज सदा से प्रयत्न शील रहा। आर्य समाज का एक साधारण सभासद भी अपनी चरित्र विषयक छोटी से छोटी बात के प्रति सदा कर्तव्य परायण और जागरूक रहता था। यही कारण है कि न्यायालयों में जब किसी आर्य समाजी को साक्षी हेतु उपस्थित होना पड़ता और वह अपने आपको आर्य समाजी घोषित कर देता था तो न्यायाधीश को उसकी साक्षी की सत्यता के संबंध में कोई शंका अवशिष्ट नहीं रह जाती थीं। यह था चरित्र का उच्च धरातल जो ऋषि दयानन्द के अनुयायियों ने अपनी नैतिक और चारित्रिक साधना द्वारा अर्जित किया।

आज हम देखते हैं कि देश के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् भारतीय नागरिक के चारित्रिक मूल्यों में शोचनीय ह्रास हुआ है। सरलता, सौजन्य, निर्व्यसनता आदि के गुण धीरे धीरे ओझल हो रहे हैं और दिखावा, फैशन, दुर्व्यसन आदि बढ़ रहे है। सर्वप्रथम मदिरापान की वृद्धिगत प्रवृत्ति और मांसाहार के व्यापक प्रसार को ही लें। जिन जातियों में मांसाहार अब तक वर्जित था उनमें भी

मांस और अण्डे खाने की प्रवृति बढ़ रही हैं। एक ओर तो भारत के संविधान में शराब बंदी की आयोजना की गई हैं, दूसरी ओर हम देखते हैं कि विभिन्न राज्य सरकारें अपने राजस्व वृद्धि के प्रलोभन में शराब को प्रोत्साहन दे रही है। ग्राम ग्राम में सरकारी शराब की दुकाने खुल गई है जिनमें बिकने वाली बोतलों के ढक्कनों पर अंकित अशोक चक्र और 'सत्यमेव जयते' का आर्ष वाक्य शासकों की बुद्धि की विडम्बना का जय घोष कर रहा है। मद्य और अन्य दुर्व्यसनों ने छात्र वर्ग को विशेष रूप से अपना शिकार बनाया है। आज का विद्यार्थी गांजा, चरस, एल. एस. डी जैसे विषाक्त पदार्थों का सेवन कर अपने गमों को ही गलत नहीं करता अपने स्वास्थ्य और चरित्र का भी विनाश कर बैठता हैं। छात्रावासों में खुले आम मदिरापान होता है और लड़कियां भी इन दुर्व्यनों से नहीं बच पाती। ऐसी स्थिति में क्या यह उचित नहीं होगा कि आर्यसमाज मद्य पान, मांसाहार तथा अन्य प्रकार के नशीले पदार्थों के सेवन के विरुद्ध एक सशक्त अभियान चलाये और समाज को व्यसन मुक्त करने का बीड़ा उठाये। ऐसा कर वह सामाजिक क्षेत्र में एक अभिनव आदर्श स्थापित कर सकेगा।

फैशन परस्ती और विलासिता के प्रति भी साहसपूर्ण कदम उठाने होंगे। सिनेमा ने आज जिस प्रकार वीभत्सता, अश्लीलता, कामुकता तथा अपराध प्रवृत्ति को फैलाने का प्रयास किया है, उसे देखते हुये तो ऐसा लगता हैं कि भारतीय समाज को अधः पतन से बचाना बहुत दुष्कर कार्य है। कला और मनोरंजन के नाम पर चित्रपट, संगीत, टेलिवीजन रेडियो आदि सभी उपकरण चरित्र विघातक तथा नैतिक मर्यादाओं के विनाशक बन गये हैं। नारी चरित्र का जैसा अपमान अश्लील कैलेण्डरों तथा सिनेमा के भद्दे पोस्टरों द्वारा होता है, वह सर्व विदित है। नारीका श्लाघनीय स्वरूप चित्रित करना दूर रहा,वह मात्र भोग्या ही बना दी गई हैं, पंत के शब्दों में 'योनि मात्र रह गई मानवी'। क्या आर्य समाज इस बढ़ते हुये दुराचार और भ्रष्टाचार के साधनों को समाप्त करने के लिये कोई प्रभावी कदम उठा सकता है ? निश्चय ही उसे एक अभियान चलाना होगा, चित्रपट और रेडियो द्वारा प्रसारित होने वाली अश्लीलता और विनाशक प्रवृत्ति के विरुद्ध। उसे अश्लील पोस्टरों और भद्दे कलेन्डरों की होली जलाकर जनमत जागृत करना होगा। उसे बताना होगा कि देश के युवकों के लिए विलासिता, फैशन, आराम तलबी और दुर्व्यसन प्रियता ऐसे घातक रोग हैं, जिनमें एक बार ही जकड़ जाने पर उसका निस्तार होना कठिन है। कठोर, श्रमशील और व्यसनमुक्त जीवन बिताना ही देश के सामाजिक

और आर्थिक पुन: निर्माण की कसौटी है। आज जो राष्ट्र उन्नति के सर्वोच्च शिखरों पर पहुंच चुके हैं, वहाँ की युवक शक्ति साधना और तपस्या की भट्ठी में से कुन्दन बनकर ही निकली हैं।

सामाजिक जीवन में बेईमानी, भ्रष्टाचार, पक्षपात भाई भतीजावाद तथा सिफारिश और रिश्वत-खोरी की बुराइयाँ है जो स्वाधीनता प्राप्ति के बाद पनपी, परन्तु जिन्होंने अपने सर्व ग्रासी रूप के द्वारा हमारे सार्वजनिक चरित्र को अत्यन्त दूषित बना दिया है। संभवत; हमारे राजनीतिक आदर्शों का खोखला पन ही इन विकृतियों के लिये उत्तरदायी है। आर्य समाज इन बुराइयों के विरुद्ध एक विशाल अभियान छेड़ सकता है। सार्वजनिक जीवन को स्वच्छ किये बिना धर्म संस्कृति और नैतिकता के उपदेशों का कोई मूल्य नहीं। राजनीति के प्रलोभनीय आकर्षणों ने जीवन को अस्त व्यस्त बनाया तथा मानव को नैतिक आदर्शों को तिलाजंली देने के लिए प्रेरित किया। यही कारण है कि आज का मानव येन केन प्रकारेण अपनी स्वार्थ-सिद्धि तथा हित साधन में प्रवृत है।

चरित्र निर्माण के लिये आर्य समाज को कुछ रचनात्मक कदम उठाने होंगे। उसे यह भी अनुभव करना होगा कि भ्रष्टाचार, दुराचार आदि चरित्र विघातक विकृतियों के खिलाफ आवाज उठाने में उसे पर्याप्त जन सहयोग तो मिलेगा, साधारण जन समाज भी इस अभियान की महत्ता और उपयोगिता को अनुभव कर उसका साथ देगा, परन्तु जिनके स्वार्थो और हितों का हनन होता है, जो राजनीतिक दल और नेता मात्र जनता को गुमराह कर अपने क्षुद्र लक्ष्यों की पूर्ति करने में ही रत रहते है, उनका प्रचण्ड विरोध का सामना भी उसे करना होगा। तथापि आर्य समाज के भावी आन्दोलन की सफलता बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर करती है।

आर्य समाज का चरित्र निर्माण विषयक कार्यक्रम निम्न बिन्दुओं के अधार पर संचालित किया जा सकता है—

(अ) युवा वर्ग में चरित्र निर्माणात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने के लिए व्यवस्थित अभियान चलाया जाय। छात्रावासों, युवक-समाजों तथा अध्ययन गोष्ठियों के माध्यम से समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये युवा शक्ति को प्रेरणा दी जाये। भ्रष्टाचार और चरित्र विनाशक प्रवृत्तियों के दूरगामी, हानिकर प्रभावों को सुस्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है।

(आ) सदाचारमूलक, व्यसन रहित जीवन को एक उपलब्धि के रूप में चित्रित किये जाने वाला साहित्य लिखाया जाकर वितीर्ण कराया जाय।

(इ) समय समय पर ऐसे अभियान चलायें जाये तो शराबखोरी, जुआ, फैशन परस्ती तथा बेईमानी और रिश्वतखोरी का घिनौना रूप समाज के सामने प्रस्तुत करें। ऐसे स्वयं सेवकों की टोलियां संगठित की जाये जो इस अभियानों में भाग लेवें।

समग्र रूप में हम यह कह सकते है कि सामाजिक पुनः निर्माण के महत्व-पूर्ण कार्य में आर्य समाज को अपनी विशिष्ट भूमिका निभानी होगी। जिस प्रकार स्वतंत्रता पूर्व उसने वैयक्तिक और सामाजिक नैतिकता के उत्थान के लये यत्न किया, उसी प्रकार स्वातंत्र्योतर काल की जटिल परिस्थितियों से बिना भयभीत हुये,उसे नई पीढ़ी को संयम, सदाचार,त्याग और सेवा का संदेश देना है। संभवतः नवयुवकों का एक वर्ग उसके इन कार्यों का महत्व न समझ कर बाधक बनने की चेष्टा करे, परन्तु आर्य समाज को यह विश्वास लेकर बढ़ना होगा कि श्रेयासि बहु विघ्नानि श्रेयस्कार मार्ग में तो बाधायें आती ही है।

०——०

अध्याय–१०

आर्यसमाज के आन्दोलन का भावी रूप

(१) राजनैतिक मार्गदर्शन

अपने मौलिक रूप में एक धर्म प्रचारक संस्था होने के कारण किसी देश विशेष की सक्रिय राजनीति में भाग लेना आर्य समाज के लिये सम्भव नहीं है। उसका सार्वभौम स्वरूप भी इस बात की आज्ञा नहीं देता कि वह अपने सार्वजनीन सिद्धान्तों को विस्मृत कर किसी विशिष्ट राजनैतिक गतिविधि की उलझनों में फंसे। तथापि राजनीतिक चेतना उत्पन्न करना तथा राजनीतिज्ञों को सही दिशा प्रदान करना आर्य समाज के भावी कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अंग रहेगा। राजनीति और प्रशासन के संबंध में आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में महत्वपूर्ण निर्देश दिये हैं। सत्यार्थप्रकाश का एक सम्पूर्ण अध्याय ही उन्होंने राजनीति के अर्पित कर दिया। इसमें उन्होंने राजा, उसकी कार्यकारी परिषद, मंत्रिमण्डल, राज्यसभा के सदस्य, राजदूत, कर व्यवस्था, दण्ड विधान, विदेश नीति युद्ध नीति आदि महत्वपूर्ण राजनैतिक विषयों का विशद एवं तर्क संगत विवेचन किया है। स्वामी जी की राजा की कल्पना किसी स्वेच्छाचारी अथवा परम्परागत अधिकार प्राप्त करने वाले निरंकुश शासक की नही है। उनके अनुसार जो सब राज-सभासदों में सर्वोत्तम गुण, कर्म, स्वभाव युक्त महान् पुरुष हों और सबके प्राणवत प्रिय, पक्षपात रहित, दुष्टों को भस्म करने वाला और शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता हो उसी को राजा या सभापति करो।

स्वामी जी ने एक तंत्री शासन को लोकहित के सर्वथा प्रतिकूल माना था। वे प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था के पक्ष में थे। उन्होंने लिखा है—"प्रजा को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनके देश का शासन किसी सभा के आधीन हो न कि किसी व्यक्ति के। राजा के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह जन साधारण की सम्मति का आदर करे। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राजपुरुष कभी न चले। जो प्रजा से स्वतंत्र स्वाधीन राज वर्ग रहे तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करे। इसलिए राजा को निर्वाचित राज्य सभा के परामर्श से ही शासन संचालन करना चाहिए। राजा

अपने मन से एक भी कार्य न करे जब तक सभासदों की अनुमति न हो। न्यून से न्यून दस विद्वानों अथवा बहुत न्यून हो तो दो तीन विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे उस धर्म अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई न करे।

परन्तु स्वामी जी न तो राजा को और न सभा को ही निर्बाध अधिकार देने के पक्ष में हैं। उनका प्रजातंत्र मर्यादित तथा एक दूसरे के अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति पूर्ण आदर भाव लेकर चलता है। अतः वे मानते है कि "राजा जो सभापति है तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहे। जो प्रजा न हो तो राजा किसका? राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने अपने काम में स्वतंत्र और प्रतियुक्त मिले हुये काम में परतंत्र रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द के अनुसार शासक और शासित को एक दूसरे के प्रति स्व कर्तव्य का पालन करते हुये पूर्ण अनुशासन और मर्यादा के साथ व्यवहार करना ही सफल राजतंत्र की कुंजी है। "प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राज-पुरुष कभी न चले। जो प्रजा से स्वतंत्र स्वाधीन राज वर्ग रहे तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करे।" निश्चय ही राज्य शासन में निरकुंशता, स्वेच्छाचारिता एवं उच्छृंखलता के लिये कोई स्थान नहीं है।

आज प्रजातत्र के नाम पर जो वर्ग विशेष की तानाशाही ? चलाई जा रही है, आर्य समाज उसका विरोधी हैं। अशिक्षित, असंस्कृत अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति अचेत, राजनीतिक जागरूकता से रहित व्यक्तियों का प्रजा तत्र अर्थहीन है। अतः आर्य समाज की यह मान्यता है कि अपने राजनीतिक अधिकारों के प्रति सामान्य जनों को शिक्षित करना आवश्यक है। राजसभा के सदस्य कैसे हों, इस संबंध स्वामी दयानन्द जी लिखते है—"यदि एक अकेला सब वेदों का जानने वाला, द्विजों में श्रेष्ठ संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ धर्म हैं क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों मिल के जो व्यवस्था करे उसको कभी नहीं मानना चाहिये इसी लिये तीनों अर्थात् विद्या सभा, धर्म सभा और राजसभा में मूर्खों को कभी न भरती करे किन्तु सदा विद्वान और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करे।" सच्चे प्रजातंत्र का यही आदर्श हैं कि जो पुरुष जिस कार्य के करने योग्य हो उसे वही करने का अधिकार देना चाहिये।

आज भारत के विभिन्न राजनैतिक दल प्रजातंत्र और लोकसत्ता के नाम पर जन-भावनाओं का शोषण करने के लिए तत्पर है। प्रजातत्रनात्मक पद्धति भी अभिशाप का रूप धारण कर लेती है जब मात्र सत्ता में आने के लिये ही

उसका दुरुपयोग किया जाता है। वैदिक प्रजातंत्र पद्धति वर्ग-संघर्ष अथवा दल-संघर्ष पर आधारित नहीं होगी। वह जनता के प्रतिनिधियों से यह अपेक्षा करेगी कि वे लोकहित की भावना से प्रेरित होकर शासन का सूत्र संचालन करें। इस प्रकार आर्य समाज राजनीति के शुद्धिकरण तथा प्रजातंत्र के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिये प्रतिबद्ध है। इस संबंध में वह अपना प्रचारात्मक कार्य करे तथा प्रजातंत्र को सही अर्थों में प्रतिष्ठित कराने में अपना योगदान दे, यह उसकी भावी सफलता के लिये एक आवश्यक शर्त होगी।

आज की यह राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु विभिन्न प्रकार के मत प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इनमें सर्वाधिक चर्चा समाज वाद की है। समाज वाद एक ऐसी अमोघ औषध बन गया जो समग्र कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर मानव के समस्त तापों और कष्टों को दूर कर देगा यदि व्यापक अर्थों में समाज वाद का यह अभिप्राय लिया जाय कि अधिकाधिक लोगों के हित के लिए जो उपाय राष्ट्र के नागरिक और शासक बरतते है, उनकी समष्टि का नाम समाज वाद हैं, तो इस वाद से किसी को क्या आपत्ति हो सकती हैं? वैदिक चिन्तन में तो व्यक्ति और समाज के हित में कोई संघर्ष पूर्ण स्थिति की कल्पना भी नहीं की गई है। व्यक्ति को अपना बौद्धिक, मानसिक और आत्मिक विकास करने की पूर्ण स्वतंत्रता है और इसी प्रकार उससे भी यही अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक हित के लिये व्यक्तिगत स्वार्थ का परित्याग करने के लिए तत्पर रहे। आर्य समाज ने अपने दसवे नियम में इसी सामाजिक दायित्व के भाव को अभिव्यक्त किया है — सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालनेमें सबकोपरतंत्र रहना चाहिए किन्तु प्रत्येक हितकारी नियम पालने में सब स्वतंत्र रहें।' परन्तु इसके पूर्व के नियम में यह भी कहा गया है कि 'प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति माननी चाहिए। 'यही वे स्वर्णिम सूत्र है जिनके आधार पर व्यक्ति और समाज का पारस्परिक हित संभव है।

वैदिक समाजवाद की भी चर्चा की जाती है। वेद में समष्टिवाद का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद का संज्ञान सूक्त समाज के सभी लोगों को परस्पर मिलकर चलने, मिलकर बोलने तथा अपने मनों को एक जैसा बनाने का उपदेश देता हैं।[1] इसमें अपने से पूर्ववर्ती उन ज्ञानी एवं विद्वानों का दृष्टान्त ही

---

१ संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते ॥

१०।१९१।२

अनुकरणीय है जो सम्यक् ज्ञानवान् और एक मति वाले होकर अपना अपना भाग प्राप्त करते रहे हैं। इसी प्रकार गुप्त विषयों के गम्भीर विचारों की एकता, विचार गोष्ठियों की एकता भी आवश्यक बताई गई है, जिनमें समाज के प्रबुद्ध लोग मिलकर परस्पर विचार विमर्श करें।[1] वस्तुतः वेद परस्पर उपकार करते हुये समान रूप से भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने का ही उपदेश करता है। संकल्पों और मनों की एकता, हृदययों की एकता, अन्तःकरण की एकता और इस प्रकार वैचारिक एकता के द्वारा ही समष्टिगत उन्नति सम्भव मानी गई है।[2]

धनोपार्जन पर किसी प्रकार का अकुश लगाना वेदों में अभीष्ट नहीं माना गया है। इसके विपरीत यहां तक कहा गया है कि हम लोग धन एवं ऐश्वर्य के स्वामी बने।[3] ऐश्वर्य का संग्रह और भोग व्यक्ति का अन्तिम एवं एक मात्र लक्ष्य नहीं है। वेद ने कहा है शत हस्तं समाहर सहस्र हस्त संकिर। हम सौ हाथों से अर्जन करें तो सहस्र हाथों से उसे लोकोपकारी कार्यों मे व्यय भी करें। यदि कोई सम्पन्न व्यक्ति स्वोपार्जित धन को समाजोपयोगी कामों में व्यय नहीं करता तो वह दण्डनीय है। आचार्य विदुर ने अपने नीति-शास्त्र मे उन लोगों की निन्दा की है जो धनवान होकर भी दान नहीं करते और दरिद्र होने पर भी परिश्रम पूर्वक द्रव्योपार्जन में नहीं लगते।[4] नीतिकार ने तो उनके लिए कठोर दण्ड का विधान भी किया है। बात नितान्त स्पष्ट है। धनी लोगों का कर्तव्य होना चाहिए कि वे अपनी प्रभूत सम्पति का व्यय समाज के व्यापक हित में करें। इसके साथ साथ जो लोग केवल अपनी दरिद्रता की दुहाई देते रहते है। तथा सम्पन्न वर्ग के लोगों के प्रति अभिशापों की उपलवृष्टि करते रहते हैं उनके लिए तो नीति प्रणेता ने सहिष्णुता पूर्वक परिश्रम का जीवन व्यतीत करने तथा श्रम जल सिन्चित आजीविका के उपाय करने के लिए कहा है।

---

१ समानो मंत्रः समिति समानी समानं मनः सह चितमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
१०। १९१। ३

२. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
१०। १९१ ।४

पश्चिम का समाजवाद जहां रक्तपात, हिंसा, वर्ग द्वेष तथा पारस्परिक विग्रह के भावों की वृद्धि कर समाज को अराजकता, प्रतिशोध एवं अस्थिरता के कगार पर ले जाता है वहाँ भारतीय समाजवादी कल्पना मानव जाति के विभिन्न वर्गों में सहिष्णुता, सौमनस्य सहअस्तित्व तथा सौहार्द का भाव उत्पन्न कर उन्हें विकास करने का अवसर प्रदान करती है। आर्य समाज का यह नैतिक दायित्व है कि वह समाजवाद के नाम पर फैलाई गई वैचारिक भ्रान्तियों का निवारण करे तथा व्यक्ति और समाज के अधिकारों, दायित्वों तथा कर्तव्यों का आधाराधेय भाव से विचार कर जन समाज का उचित मार्ग दर्शन करे। प्रजातंत्र, समाजवाद, कल्याणकारी राज्य आदि के नाम पर प्रचलित विभिन्न धारणाओं का संन्तुलित मूल्यांकन तथा तत् संबंधी आर्य सामाजिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण युग की आवश्यकता है।

समाजवाद की ही भांति धर्म निरपेक्षता के संबंध में भी आर्य समाज को अपना स्पष्ट मत व्यक्त करना होगा। भारतीय संविधान ने इस देश को एक धर्म निरपेक्ष राज्य माना है। जहां तक सविधान में प्रयुक्त इस शब्द के मूल भाव का संबंध है, वह हमें निर्दोष सा प्रतीत होता है, क्योंकि कोई भी राज्य किसी मत, विश्वास या पन्थ, सम्प्रदाय के प्रति एकांगी दृष्टिकोण नहीं रख सकता। देश की कोटि-२ जनता अपनी आध्यात्मिक, पारलौकिक और धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करने तदनुसार आचरण करने तथा पूजा उपासना की मनोनुकूल प्रणाली को चुनने के लिए स्वतंत्र हैं परन्तु धर्म निरपेक्षता का यह अर्थ नहीं हैं कि राज्य या शासन नैतिकता, मानवता तथा धर्म एवं अध्यात्म के उच्चतम मूल्यों की उपेक्षा कर लोगों को मात्र भौतिक तथा ऐहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के कार्यों में ही नियोजित करे। धर्म निरपेक्षता का यदि यह अर्थ लिया जाता है कि वह देश के बहुमत के द्वारा मान्य धर्म, आचार विचार, इतिहास परम्परा और दर्शन के प्रति उपेक्षा भाव केवल इसलिये प्रदर्शित करे कि कहीं उसे अल्प मत के समुदाय बहुसंख्यक वर्गके प्रति पक्षपात पूर्ण रुख अपनाने का अपराधी न मानने लगें, तो यह निश्चय ही अन्याय एवं अविचार का प्रतीक होगा। इसके विपरीत शासन का यह पवित्र दायित्व है कि वह

———————

३   वयं स्याम पतयो रयीणाम्।

४   द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
    धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥ १ । ६०

बहुसंख्यक आर्य मतावलम्बी प्रजा जनों की संस्कृति, विचारधारा एवं परम्परा के प्रति आशंसा, संवेदना एवं सहानुभूति का भाव रखते हुये उसे उचित संरक्षण प्रदान करे। उसको यह भी देखना होगा कि धर्म निरपेक्षता के नाम पर साम्प्रदायिक तुष्टिकरण की नीति को प्रश्रय न मिले।

इस प्रकार वर्तमान राजनीति के आधार स्तम्भ समझे जाने वाले लोकतंत्र, समाजवाद तथा धर्म निरपेक्षता को सही परिप्रेक्ष्य में उपस्थित करने तथा वर्तमान शासकों द्वारा की जाने वाली उनकी दूषित व्याख्या का निराकरण आर्य समाज के भावी कार्यक्रम का महत्वपूर्ण अंग होगा। राजनीति एवं सार्वजनिक जीवन का शुद्धिकरण आज कितना आवश्यक बन गया है, यह कहना अनावश्यक है। वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में भ्रष्टाचार पक्षपात, भाई-भतीजावाद का बोलबाला है। आर्य समाज पर आधारित राजनीति को महत्व प्रदान करता है परन्तु वह यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक समझता है कि धर्म को साथ लेकर चलने वाली राजनीति का अर्थ संकीर्ण साम्प्रदायिकता को राजनीति में प्रवेश दिलाना नहीं है। धर्म उन मूलभूत कर्तव्यों का नाम है जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति में सहायक होते है। ये तत्व यदि राजनीति में भी प्रविष्ट होंगे और प्रश्रय प्राप्त करेंगे तो राजनैतिक जीवन में व्याप्त अनैतिकता तथा अनाचार को दूर करने में सहायक होंगे। प्रजातंत्र और साम्य वाद के नाम पर आज संसार के राष्ट्र दो पृथक् पृथक् शिविरों से बंट गये हैं प्रजातंत्र को कभी कभी पूंजीवाद का आश्रय दाता भी समझ लिया जाता है। साम्यवादी देशों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन एक साधारण बात बन गई है। विचार और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता को समाप्त को कर जीवन की मूलभूत अन्न वस्त्र आदि की आश्यकताओं की पूर्ति का ही दायित्व ग्रहण करने वाली साम्यवादी जीवन-पद्धति कदापि वांछनीय नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रजातंत्र के नाम पर निरंकुश पूंजी शाही व्यवस्था को संरक्षण देना जितना अवांछनीय है, उतना ही साम्यवादी शासन व्यवस्था का गुणगान करते हुये उसका अंधानुकरण करना भीं हानिकारक है आर्य समाज की जीवन मीमांसा व्यक्ति तथा समाज के उपयुक्त अधिकारों को स्वीकार करते हुये भी उन्हें परस्पर अन्योन्याश्रित समझती है तथा किसी को भी निर्बाध स्वतंत्रता देने के पक्ष में नहीं है।

आर्य समाज उस शासन प्रणाली का अनुमोदन करता है जो मनु शुक्र, याज्ञवल्क्य, चाणक्य आदि के धर्मशास्त्रों और विधि ग्रन्थों में प्रतिपादित हुई

हैं।[1] परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वर्तमान परिस्थितियों और परिवेशों की को पूर्ण अवहेलना कर वह पुराकालीन जीवन प्रणाली को यथावत् स्वीकार कर लेना उचित समझती है। ऐसा होना सम्भव भी नहीं है और न हितकर ही हैं। इसका अभिप्राय इतना ही है कि धर्म और नीति के मूलभूत तत्वों का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों ने अपनी आलोकिक मेधा के बल पर राजनय के जिन सिद्धान्तों की परिकल्पना की थी, वे इतने व्यापक, सार्वजनीन और लोकग्राह्य है कि उनका प्रयोग कर किसी भी देश के प्रशासक अपनी प्रजा का हित कर सकते हैं। इस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत देश के सभी नागरिकों को समान अधिकार प्राप्त होते हैं। जाति, वर्ग, लिंग और व्यवसाय के आधार पर भेद भाव का आचरण नहीं किया जाता। आज की धर्म निरपेक्षता कभी कभी भीरुता का पर्याय बन जाती है जब हम देखते हैं कि संविधान में देश के समस्त नागरिकों के लिए एक ही प्रकार का सामाजिक विधान (Civil CoDE) निर्मित करने का प्रावधान होने तथा सरकार को ऐसा करने का अधिकार दिये जाने पर भी आज के प्रशासक ईसाई, मुसलमान आदि अल्प-संख्यक जातियों के अनुचित सामाजिक विधि विधानों में हस्तक्षेप कर उन्हें अधिक तर्क संगत एवं उपयोगी बनाने में संकोच करते हैं। यदि बहु विवाह की प्रथा बहु-संख्यक हिन्दू जाति के लिए हानिकर है तो निश्चय ही वह मुसलमानों के लिए भी उतनी नुकसानदेह है. फिर सरकार का यह कर्त्तव्य नहीं हो जाता कि वह बहु विवाह से त्रस्त, पीड़ित तथा बहुधा शोषित मुस्लिम नारी वर्ग की दशा सुधारने के लिये मुसलमानों में प्रचलित बहु- विवाह को रोके। यह उदाहरण तो एक निर्देश मात्र है।

राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में उठाये जाने वाले सभी प्रगतिशील कदमों का आर्य समाज स्वागत करेगा, परन्तु साथ ही वह यह भी चाहेगा कि देशवासी अपना आदर्श परम्परागत मान्यताओं और धर्म तथा नैतिकता के उदात्त मूल्यों की रक्षा करते हुये ही अपना राजनैतिक कार्यक्रम निर्धारित करें। स्वयं किसी भी देश की सक्रिय राजनीति में भाग न लेते हुये भी सैद्धान्तिक दृष्टि से राजनीतिशास्त्र के मूलभूत तत्वों का प्रतिपादन और प्रचार उसके भावी आन्दोलनों और कार्यक्रमों का एक सुदृढ आधार होगा।

---

१ मनुस्मृति, शुक्रनीति, याज्ञवल्कय स्मृति, कौटिलीय अर्थ शास्त्र

आर्य समाज में प्रजातंत्र

प्रजातंत्र की विचार धारा का उदय उन्नीसवीं शताब्दी की एक विशेष उपलब्धि स्वीकार की गई है। आर्य समाज ने प्रजातंत्र का आधार उस समय स्वीकार किया जब देश में इस प्रगतिशील विचारधारा से लोग सर्वथा अपरिचित थे। भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के काल में आर्यसमाज ही एक मात्र ऐसी संस्था थी जिसने अपने संगठन और विधान में लोकतंत्र की प्रणाली का प्रचलन किया। यद्यपि ब्राह्म समाज की स्थापना आर्य समाज के जन्म से लगभग आधी शताब्दी पूर्व ही हो गई थी, किन्तु अपने अनुयायियों के विचारों का महत्व ब्राह्म नेताओं ने कभी स्वीकार किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत ब्राह्म समाज के अग्रणी नेता श्री केशवचन्द सेन ने तो अपने आपको ईश्वर के आदेश प्राप्त दैवी पुरुष माने जाने का प्रचार किया। जे० एन फर्कुहर ने अपनी पुस्तक 'भारत में आधुनिक धर्मान्दोलन' (Modern Religious Movements in India.) में केशव की इस मनःस्थिति का विवेचन करते हुयेलिखा है—केशव अपने आपको अन्य मनुष्यों से पृथक् अनुभव करने लगे मानों उन्हें ईश्वर से सतत प्रेरणायें मिलती है। उनके कुछ नवयुवक शिष्यों ने उनके चरणों में प्रणिपात करना प्रारम्भ कर दिया जिसप्रकार शताब्दियों से हिन्दूलोग अपने गुरुओं के प्रति करते आये है। "आगे चलकर यह स्थिति और भी भयंकर हो गई जब उन्हें ईश्वरीय आदेश प्राप्त होने लगे और वे अपने प्रत्येक कार्य के लिये ईश्वर को ही उत्तरदायी ठहराने लगे। फर्कुहर के शब्दों में—"सबसे बुरी बात उनका आदेश से संबंधित सिद्धान्त था। उन्होंने यह घोषित कर दिया कि समय समय पर विशेष प्रतिबोध (इल्हाम) द्वारा उन्हें ईश्वर से सीधी आज्ञायें प्राप्त होती है। हम सहज ही अनुमान कर सकते है कि जिस सम्प्रदाय का धर्म गुरु अपने आपको प्रत्यादिष्ट माने वहाँ प्रजातंत्र की भावनायें किस प्रकार सुरक्षित रह सकती है।

इसके विपरीत आर्य समाज का संगठन जन-मन की भावनाओं को पूर्ण महत्व प्रदान करते हुये प्रजासत्ताक सिद्धान्तों के आधार पर किया गया। बम्बई में जब प्रथम बार आर्य समाज की स्थापना हुई और उसके २८ नियम निर्धारित किये गये, उसी समय संस्था के साधारण सभासदों की सम्मति को ही महत्व प्रदान किया गया। २८वें नियम में यह है कि प्रावधान है कि सभासदों की सम्मति से ही इन नियमों में न्यूनाधिकता की जा सकेगी।[1] देखने की बात यह

---

१ इन नियमों से कोई नियम नया किया जायगा वा कोई निकाला जायगा

है कि यह विधान उस समय निर्मित और क्रियान्वित किया गया, जिस समय भारत के सार्वजनिक जीवन में लोकतंत्र एवं प्रजातंत्र की कोई चर्चा ही नहीं थी आर्य समाज के लिए वस्तुत: यह गौरव का विषय है कि उसने अपने सदस्यों को लोकतान्त्रिक अधिकार उस समय प्रदान किये जब कि लोक सत्तात्मक अधिकारों की दुहाई देने वाली राजनैतिक संस्थाओं का जातकर्म भी नहीं हुआ था।

प्रजातान्त्रिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए आर्य समाज के प्रवर्तक स्वयं कितने उत्सुक और चिन्तित थे, यह उनके जीवन की कतिपय घटनाओं से विदित होता है। जब लाहौर आर्य समाज ने उन्हें आर्य समाज का 'संरक्षक' अथवा अधिनायक का पद देना चाहा तो उसे अस्वीकार करते हुये स्वामी जी ने कहा कि इसमें गुरुपन की गंध आती है और मेरा उद्देश्य ही गुरुपन को तोड़ने का है न कि स्वय गुरु बनकर एक नयापंथ स्थापित करने का[२]। उन्होंने इस प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं किया कि उन्हें आर्य समाज का 'परम सहायक, स्वीकार कर लिया जाय। उनका तर्क यह था कि यदि मुझे 'परम सहायक मानोगे तो उस जगदगुरु सर्वशक्तिमान को क्या मानोगे[३]? वस्तुत: वे अपने आपको अपने अन्य सैकड़ों भक्तों और प्रशंसको की भांति आर्य समाज का एक साधारण सभासद कहलाने में ही गर्व का अनुभव करते थे। लाहौर में ही एक प्रसंग उपस्थित हुआ जब स्वामी जी आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संग में उपस्थित हुये। उस समय ईश्वरोपासना हो रही थी स्वामी जी को आते देखकर सबलोग सम्मान प्रदर्शनार्थ खड़े हो गये। उपासना की समाप्ति पर स्वामी जी ने सभासदों को सम्बोधित करते हुये कहा कि उपासना काल में उपासक ईश्वर के सत्सग में मग्न होते हैं ऐसे समय में कोई कितना ही बड़ा मनुष्य आये, उपासकों को खड़े न होना चाहिये क्योंकि ईश्वर से कोई बड़ा नहीं है[४]। इस प्रकार हम देखते है कि आर्य समाज के प्रवर्तक ने मनुष्य के बीच मौलिक एकता का उपदेश दिया था।

किंवा अधिक न्यून किया जायगा सो सब शिष्ट सभासदों के विचार रीति से सब शिष्ट सभासदों को विदित करके ही यथा योग्य करना होगा।

२ महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र भाग २ पृष्ठ ५४ पं० घासीराम रचित
३ वही
४ वही

निश्चय ही आर्य समाज ने अपने विधान और संगठन में जो प्रजातंत्र प्रणाली स्वीकार की, उसका ऐतिहासिक महत्व है। आर्य समाज ने एक शताब्दी तक इसका सफलता पूर्वक प्रयोग किया है। विदेशी शासन के युग में तो आर्य समाज के इस सुदृढ़ लोकतंत्र पर आश्रित संगठन को देखकर एक आलोचक ने उसे 'Government within the Government' कहा था। परन्तु आज यह अनुभव किया जा रहा है कि जिस चुनाव प्रणाली को अपना कर आर्य समाज ने देश के सार्वजनिक जीवन का पथ दर्शन किया था, आज वही पद्धति उसके लिए अभिशाप बन गई है। धार्मिक संस्था में गुरुपद की स्थापना विभिन्न विकृतियों को जन्म देती है, यह स्वामीदयानन्द का निश्चित विश्वास था। धीरे धीरे गुरु परम्परा व्यक्ति पूजा को जन्म देती है और सिद्धान्तों के स्थान पर अनधिकारी व्यक्ति ही पूजा और सम्मान के पात्र बन जाते है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आर्य समाज के प्रवर्तक मूर्ख और अयोग्य व्यक्तियों को अधिकार देने के समर्थक थे। मन्वादि स्मृति ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में यह स्पष्ट कर दिया हैं कि वेद वित् एक भी संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे वही धर्म श्रेष्ठ और माननीय है, इसके विपरीत सहस्रों अज्ञानी मिलकर भी जो कुछ व्यवस्था दे वह माननीय नहीं हो सकती। अत: आर्य समाज के भावी आन्दोलन की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगी कि वह अपने संविधान के लोकतांत्रिक चरित्र को सुरक्षित रखते हुये भी यह व्यवस्था करे, जिसके अनुसार वेदज्ञ विद्वानों, सर्वसंग परित्यागी परिव्राजकों तथा समाज सेवा के लिए समर्पित व्यक्तियों को आर्य समाज में प्रधानता प्राप्त हो। ऋषि दयानन्द का आर्य समाज व्यक्ति के अधिकारों का समर्थक होते हुये भी मूर्खों के बहुमत का समर्थक नहीं हैं।

आर्य समाज की भावी अर्थनीति

आज का युग अर्थ प्रधान है। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रसिद्ध साम्यवादी चिन्तन प्रणाली के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स ने तो इतिहास और मानव के सामाजिक विकास का मूलाधार ही आर्थिक प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है। आज संपूर्ण राष्ट्रों के पारस्परिक संबंध और व्यवहार, उनकी मैत्री और विग्रह आर्थिक मामलों पर टिके हुये है। यह बात नहीं कि पुराकालीन आर्य ऋषियों के अर्थ के महत्व को कभी अस्वीकार किया हो। मानव के परम पुरुषार्थ का निर्धारण करते हुये अर्थ को धर्म के बाद ही स्थान दिया गया हैं। महामति भीष्म ने पुरुष को अर्थ का दास भले ही किसी अन्य अर्थ में कहा हो परन्तु आचार्य बृहस्पति रचित अर्थशास्त्र में अर्थ को धर्म का मूल कहा गया है।

आर्य समाज के चिन्तन की एक विशेषता यह रही कि उसने सदा ही मानव के बहुमुखी कल्याण की विधायक योजनायें प्रस्तुत की। जहाँ मनुष्य को पारलौकिक सुखप्राप्त करने के लिए पारमार्थिक चिन्तन करना चाहिये वहां इस लोक में सर्वांगीण सुख प्राप्त करने के लिए यह भी उतना ही आवश्यक है कि वह आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त रहे। अत: आर्यसमाज ने आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु अपने चिन्तन तथा विचार को सदा उन्मुक्त रखा। इस परिप्रेक्ष्य में हमें यह देखना होगा कि वर्तमान जटिल आर्थिक समस्याओं के समाधानहेतु आर्य समाज क्या उपाय सुझाता है तथा वह सन्तुलित अर्थ नीति की संरचना करने में किस प्रकार अपना योग दे सकता है ?

जहाँ तक बड़े उद्योग धन्धों की स्थापना का संबंध है, आर्य समाज का सैद्धान्तिक चिन्तन उसके अधिक पक्ष में नहीं है। आचार्य मनु ने महा मंत्र प्रवर्तन को मानव के लिए अशुभ तथा अकल्याणकारी ही माना है। भारत की विशिष्ट स्थिति को देखते हुय भी यह बात ठीक प्रतीत होती हैं। इस देश की आर्थिक समस्याओंका समुचित निदान करनेवाले महात्मागांधी ने भी बड़े उद्योगों की स्थापना को अश्रेयस्कर मानते हुये लघु उद्योगों और गृह उद्योगों परही बल दिया था। आर्य समाज ने भी अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में स्व-स्थापित शिक्षण संस्थाओं में गृह उद्योगों की शिक्षा पर बल दिया। सिलाई, कढाई, चटाई बुनना आदि के उद्योग जहां स्वल्प साधनों से प्रारम्भ किये जा सकते है, वहां वे जन-साधारण की आर्थिक क्षमता को बढ़ाने में भी सहायक होते हैं।

आज के आर्थिक युग में पूंजीपतियों और श्रमिकों के विवाद, वर्ग-संघर्ष जनित समस्यायें, साधनों के समाजीकरण अथवा राष्ट्रीयकरण आदि के विविध प्रश्न समाधानार्थ उपस्थित है। आर्य समाज बिना किसी पूर्वाग्रह के इन सभी प्रश्नों पर समुचित विचार विमर्श करने और उनका तर्क पूर्ण समाधान निकालने का इच्छुक है। समाजवाद की मूलभूत आर्थिक नीतियों के प्रति उसका कोई स्पष्ट विरोधी रवैया नहीं है, परन्तु वह इतना अवश्य मानता हैं कि केवल आर्थिक समस्याओं को ही इतना तूल न दे दिया जाय, जिससे कि मानव के सतुलित विकास के लिए आवश्यक अन्य प्रवृत्तियों के विकास में बाधा पड़े। तथापि वह आर्थिक शोषण, उत्पीड़न, पूंजी के अनावश्यक एकाधिकार, श्रमिक वर्ग पर होने वाले अत्याचारों एवं विषमता मूलक व्यवहार का विरोधी है।

यह लिखने में कोई संकोच नहीं हैं कि आर्य समाज ने अभी तक देश और समाज के सम्मुख व्याप्त विविध आर्थिक समस्याओं के प्रति अपना कोई सुनि-

धारित दृष्टिकोण नहीं बनाया है। ज्यों ज्यों अर्थ युग की चुनौतियां उसके समक्ष आती जाती हैं त्यों त्यों वह अधिक जागरूकता एवं विश्वास के साथ उनका सामना करनेके लिए तत्पर हो जाता हैं। आवश्यकता इस बात की है कि आज ऐसे विद्वानों की एक विचार गोष्ठी आयोजित की जाय जो भारतीय आर्य शास्त्रों में पूर्णतया अवगाहन कर पुरातन अर्थ नीति की रूप रेखा प्रस्तुत कर सके। साथ ही उनसे यह भी अपेक्षा की जायगी कि वे वर्तमान में प्रचलित विविध आर्थिक वादों और सिद्धान्तों के भी पूर्ण मर्मज्ञ हों। ऐसे विद्वान वेदों के सहस्रों मंत्रों में निहित आर्थिक विचारों को व्यवस्थित श्रृंखलाबद्ध रूप प्रदान करेंगे तथा परवर्ती स्मृति, इतिहास, पुराण साहित्य में विद्यमान अर्थ विषयक चिन्तन को भी स्पष्ट करेंगे। उनका एक कर्तव्य यह भी होगा कि ऋषि दयानन्द के सुविशाल साहित्य में जो यत्र तत्र अर्थ विषयक सिद्धान्त बिखरे पड़े है उन्हे सूत्रित करें और इस प्रकार वेद, स्मृति तथा दयानन्द प्रतिपादित अर्थ शास्त्र का प्रारूप प्रस्तुत करें। ऐसा वैदिक अर्थशास्त्र बन जाने पर उसे देश, काल, और परिस्थितियों के अनुसार वर्तमान आर्थिक समस्याओं के संदर्भ में व्याख्यात किया जायगा। स्व० प० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपने 'कम्यूनिजम' नामक ग्रन्थ में तथा प० बुद्धदेव विद्यालंकार ने कायाकल्प में वैदिक अर्थनीति को स्पष्ट करने का प्रयास किया था। पं० ईश्वरचन्द्र दर्शनाचार्य रचित अर्थ धर्म- मीमांसा भी इस विषय का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करती है।

o—o

आर्यसमाज के आन्दोलन का भावी रूप: साधन और उपाय

प्रचार प्रणाली में समयोचित परिवर्तन

आर्य समाज अपने मन्तव्यों और विचारों के प्रचार हेतु विभिन्न साधनों का प्रयोग करता है। लेखनी के द्वारा आर्य समाज के मनीषी विद्वान अपनी विचारधारा का प्रसार करने के साथ साथ वाणी के द्वारा भी सहस्रों लोगों तक अपना संदेश पहुंचाते रहे हैं। आज युग के अनुसार प्रचार प्रणाली में परिवर्तन भी आवश्यक हो गया है। एक समय था जब शास्त्रार्थ, वाद-विवाद और खण्डन मण्डन के द्वारा आर्य समाज की वैचारिक मान्यताओं को प्रचारित किया जाता था। किसी न किसी रूप में आज भी प्रचार की उपर्युक्त प्रणालियों का ही प्रयोग होता हैं परन्तु आज के मानव धर्म के मौलिक तत्वों के प्रति जिज्ञासा तो बढ़ी परन्तु वह अनावश्यक शास्त्रीय विवादों को महत्व देने के लिए तैयार नहीं हैं। वह एक ऐसी धर्म प्रणाली को जानने के लिये उत्सुकता प्रकट करता है जो उसके मनसंतोष के कारण बने तथा जीवन की नित्य प्रति की हाय से उसे छुटकारा दिला सके। इस लिये आर्य समाज को आध्यात्मिकता के प्रति लोगों में नैसर्गिक इच्छा जागृत करनी होगी। उसके मंचों से प्रस्तुत किये जाने वाले व्याख्यान, भाषण, भजन, प्रवचन आदि रूढ़ प्रणाली का अनुसरण न कर स्फूर्तिदायी एवं प्रेरणास्पद बने, यह आवश्यक है। यहाँ हम आर्य समाज की प्रचारप्रणालीं में उन अपेक्षित परिवर्तनों की विशेष रूप से चर्चा करेगे जिनके द्वारा यह संस्था भविष्य के सामाजिक और राष्ट्रीय ढांचे में प्रभावी परिवर्तन कर सकेगी।

आर्य समाज का व्याख्यान-मंचीय प्रचार

अब तक आर्य समाज में साप्ताहिक अधिवेशनों, वार्षिकोत्सवों तथा विशिष्ट पर्वों, त्यौहारों तथा महापुरुषों से संबंधित दिवसों पर व्याख्यान प्रवचन, कथा-वार्ता आदि के द्वारा अपने मन्तव्यों के प्रचार की व्यवस्था होती रही

है। इनमें युगानुकूल सुधार अपेक्षित हैं। वार्षिकोत्सवों की प्रथा स्वामी दयानन्द के जीवन काल में ही प्रचलित हो गई थी। स्वयं महर्षि ने लाहौर, मेरठ, लखनऊ तथा बम्बई नगरों में स्थापित आर्य समाजों के वार्षिकोत्सवों में उपस्थित होकर अपने श्रीमुख से श्रोतृवृन्द के हितार्थ अपनी कल्याणी वाणी प्रवाहित की थी। परन्तु आज यह अनुभव किया जा रहा है कि वार्षिकोत्सवों के आयोजन भी आर्यसमाज के वैचारिक आन्दोलन को गतिशील एवं नवीनप्रेरणा देने में असमर्थ सिद्ध हो रहे है। रूढ़ि और प्रथा पालन के रूप में उत्सवों का आयोजन कर हम उनसे वाँछित लाभ उठाने में असमर्थ रहेंगे। अतः यदि समय रहते उत्सवों की कार्य प्रणाली में समयोचित सुधार नहीं किया गया, तो निश्चय ही वे सर्वथा शुष्क एवं निर्जीव होकर हमारे लिए न केवल भार स्वरूप ही हो जायगें, अपितु उनकी सामयिक उपयोगिता भी समाप्त हो जायगी। उत्सवों के योगानुकूल परिवर्तन नितान्त अपेक्षित है। कतिपय सुझाव एवं प्रस्ताव इस संबंध में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

व्याख्यानों की अपेक्षा कथाओं का प्रभाव धर्म प्राण जनता पर विशेष पड़ता है। अतः उत्सवों से पूर्व एक सप्ताह तक किसी शास्त्रज्ञ विद्वान की आध्यात्मिक विषय पर कथा आयोजित की जानी चाहिये। उत्सव के मुख्य दिनों में निश्चित विषयों पर अधिकारी विद्वानों के सुव्यवस्थित, तर्क-पूर्ण भाषण कराये जायें। व्याख्यानके विषयों की सूचना विज्ञापनों द्वारा जनता को पूर्व से ही दे देनी चाहिए। अक्सर यह देखा गया हैं कि आर्य समाज के उत्सवों में साधारण, अल्प अथवा अर्द्ध शिक्षित जनता तो उपस्थित होती है किन्तु बुद्धिजीवी वर्ग के लोग कम आते हैं। चेष्टा यह होनी चाहिये कि प्रबुद्ध लोग अधिकाधिक संख्या में उपस्थित हों। प्राध्यापक, वकील, छात्र लेखक और पत्रकारों को भी विशेष रूप से आमन्त्रित किया जाना चाहिये तथा व्याख्यानों पर उनकी प्रतिक्रिया जानने का यत्न करना आवश्यक है। राजनैतिक विवाद पूर्ण भाषणों को निरुत्साहित करना होगा परन्तु सामयिक समस्याओं तथा सामान्य जनता के अभावों और अभियोगों तथा आशाओं एवं आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करने वाले प्रेरणादायी भाषणों की उपयोगिता निर्विवाद है।

आर्य समाज की वेदी से निम्न विषयों पर अधिकारी विद्वानों के सारपूर्ण व्याख्यान कराये जा सकते हैं।

(१) वेद और वैदिक वाङ्मय-वेद वर्णित विषय, वेदाध्ययन की समस्यायें वेद की सार्वजनीन शिक्षायें, स्वामी दयानन्द की वेद भाष्य शैली की,

विशिष्टता, अन्य भाष्यकारों से स्वामी दयानन्द की वेदार्थ प्रणाली की तुलना आदि।

(२) दार्शनिक विषय—त्रैतवाद, ईश्वर का अस्तित्व निरूपण, जीवेश्वर-भेद, शाँकर अद्वैतवाद की आलोचना, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय मोक्ष, स्वरूप एवं साधन।

(३) रामायण और महाभारत की नैतिक शिक्षाओं पर आधारित ऐतिहासिक प्रवचन।

(४) मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थयात्रा, श्राद्ध, जातिप्रथा आदि साम्प्रदयिक विश्वासों के खण्डनपरक व्याख्यान भी कराये जायें किन्तु खण्डन के साथ साथ आर्य समाज का रचनात्मक दृष्टि कोण भी प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है। यथा मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुये ईश्वर की वास्तविक उपासना का स्वरूप विवेचन, अवतारवाद का खण्डन करते हुये उसके निराकार, निर्विकार, निरंजन स्वरुप की मार्मिक विवेचना, मृतक-श्राद्ध खण्डन के साथ साथ श्राद्ध और तर्पण के वास्तविक स्वरुप की स्थापना आदि।

(५) वैदिक राजनीति, वैदिक समाज-शास्त्र, वैदिक अर्थ-नीति, वर्ण-व्यवस्था की उपयोगिता एवं वैज्ञानिकता जैसे विशिष्ट विषयों का निरूपण

(६) ऋषि दयानन्द और आर्य समाज के ऐतिहासिक अध्यतन से सम्बन्धित व्याख्यान। इनमें ऋषि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन करना अपेक्षित है, तथा आर्य समाज को राष्ट्र के उत्थान तथा मानव जाति की सामूहिक उन्नति में जो विशिष्ट भूमिका रही है, उसका विवेचन करना भी आवश्यक होगा।

व्याख्यानों के विषयोंकी कोई सीमा तथा इयत्ता निर्धारित नहीं की जासकती। समय, स्थान, परिस्थिति और वक्ता श्रोता भेद से व्याख्यानों के विषयों में बहुविधि परिवर्तन हो सकते हैं।

आर्य समाज की प्रचार प्रणाली और संगीत:—

मानव अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये संगीत जैसे प्राणवान माध्यम का सहयोग सदा से लेता रहा है। महा कवि विहारी के शब्दों में—

तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रतिरंग ।
अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग ॥

संगीत और साहित्य आदि सरस कलाओं में जब तक मनुष्य सर्वात्मना तल्लीन नहीं हो जाता तब तक वह उनके रसास्वादन से वंचित ही रहता है । आर्य समाज ने संगीत के माध्यम से अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया । मेहता अमीचन्द आर्य समाज के आद्य संगीतज्ञ तथा भजनों के माध्यम से प्रचार करने वाले प्रथम भजनोंपदेशक थे । कालान्तर में अनेक रस सिद्ध कवियों ने जो भाव पूर्ण कृतियां लिखी, संगीत के मर्मज्ञ कलाकारों ने उन्हें अपनी कला से सजाकर जन-समाज के सन्मुख प्रस्तुत किया । आर्य समाज के ऐसे कवियों एवं संगीतकारों में कुंवर सुखलाल 'आर्य मुसाफिर', कविरत्न प्रकाश चन्द्र पन्नालाल पीयूष ओमप्रकाश वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय है । जहां सिद्धहस्त कलाकारों ने संगीत के तलस्पर्शी ज्ञान तथा नाद साधना के द्वारा आर्य समाज के सन्देश को दिग् दिगन्त में गुंजरित किया, वहां ऐसे तथाकथित संगीताचार्यो की कमी नहीं थी, जो न तो इस विद्या में व्युत्पन्न ही थे और न वे प्रभावपूर्ण शैली में अपनी बात को कहने में ही समर्थ थे । ऐसे भजनोपदेशकों के द्वारा आर्य समाज के गौरव की वृद्धि होना तो दूर, उसका ह्रास ही हुआ । लोग व्यग्ंय में आर्यसमाजी भजनीकों को संगीत विद्या का शत्रु ही कहने लगे । उनका यह कथन कटु होने पर भी सत्य से अधिक दूर नहीं था ।

इस वस्तुस्थिति को देखते हुये भजनोपदेशों की कार्य शैली तथा प्रचार-प्रणाली में आवश्यक परिवर्तन करना आवश्यक है । यह चेष्टा की जानी चाहिये कि विशुद्ध शास्त्रीय तर्जों में मधुर, शिक्षाप्रद, भावपूर्ण भजनों का गायन करने वाले भजनोंपदेशकों को प्रोत्साहित किया जाय । इसके लिये संगीत की विधिवत् शिक्षा देने वाले विद्यालयों की स्थापना होनी चाहिए ।

आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संग

ईश्वरोपासना की सामूहिक प्रणाली सैमेटिक मजहबों में प्रचलित है । ईसाइयों ने रविवार को उपासना का दिन नियत कर रखा है । मुसलमानों में जुमे की नमाज का विशेष महत्व है । भारत की धर्म परम्परा में ऐसे किसी निश्चित दिन की सूचना नहीं मिलती, जिस दिन लोग एकत्रित होकर समूह गत उपासना करते हो जब ईसाई मत का भारत मे भी सर्वत्र प्रचार हो गया और

उन्होंने यत्र तत्र अपने बड़े बड़े उपासना स्थल (गिरजाघर) बना लिये जहाँ निश्चित दिन एवं समय पर उनके धर्म याजक उपासक समुदाय के सम्मुख अपने प्रवचनादि प्रस्तुत करने लगे तो सुधारवादी विचारधारा के धर्माचार्यों ने भी उनका अनुकरण श्रेयस्कर समझा। जे० एन० फर्कुहर के अनुसार-"राम-मोहन राय द्वारा संचालित उपासना प्रणाली ईसाई पद्धति ही है। प्राचीन हिन्दू धर्म के लिए सामूहिक उपासना एक अपरिचित वस्तु है। "राममोहनराय द्वारा प्रवर्तित ब्राह्म समाज के साप्ताहिक अधिवेशन प्रति शनिवार सायंकाल ७ से ९ बजे तक होते थे। इनमें दक्षिणी ब्राह्मणों द्वारा वेद व्याख्या, उपनिषद-पाठ आदि कार्यक्रम होते।

जब १८७५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना हुई, उस समय भी साप्ताहिक अधिवेशनों का क्रम इसी प्रकार निर्धारित किया गया। आर्य समाज में प्रति शनिवार को सभासदगण एकत्रित होते और सामवेद गान, उपदेश, प्रश्नोत्तर, संगीत आदि का कार्यक्रम सम्पन्न होता। थोड़े समय पश्चात् जब यह अनुभव किया गया कि शनिवार की अपेक्षा लोगों को समाज मंदिर में उपस्थित होने में रविवारको अधिक सुविधा होती है, तो साप्ताहिक अधिवेशन रविवार को होने लगे। साप्ताहिक सत्संगों के द्वारा आर्य समाज अपने सिद्धान्तों का अनवरत प्रचार करने में सफल हुआ। आर्य समाज की सर्वोच्च संस्था सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने साप्ताहिक अधिवेशनों का विधिवत् संचालन करने के लिए एक निश्चित पद्धति का निर्माण किया हैं। प्रत्येक समाज से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इस पद्धति का पूर्ण पालन करते हुये साप्ताहिक कार्यक्रम को अधिक लोकप्रिय, रोचक तथा उपादेह बनाता रहै।

साधारणतय: रविवारीय सत्संगों में सामूहिक सन्ध्या, यज्ञ, भजन, किसी आर्ष ग्रन्थ की कथा तथा प्रवचन का कार्यक्रम रहता है। होता यह है कि संध्या और अग्नि होत्र के कार्यक्रमों में सभासदो की उपस्थिति नगण्य रहती हैं। इसीप्रकार सत्संगों में गाये जाने वाले भजनों की गुणवत्ता, उनके भाव सौन्दर्य तथा गायन गायन कौशल की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इसी प्रकार निश्चित एवं उपयोगी विषयों पर प्रवचन कराने की अपेक्षा विषय के चयन का दायित्व वक्ता पर ही छोड़ दिया जाता है। आर्य समाज के आन्दोलन की भावी सफलता और लोकप्रियता इस बात पर भी निर्भर करती है कि वह अपने सत्संगों को प्राणवान प्रेरणाप्रद तथा जीवन्त बनाने के लिए उचित कदम उठाये। सर्वप्रथम प्रत्येक समाज में एक पुरोहित की नियुक्ति अनिवार्यत: होनी चाहिये।

यह पुरोहित ही आर्य समाज के साप्ताहिक सत्संगों का संचालन गृहस्थों के संस्कार संबंधी यज्ञों तथा अन्य पर्व -त्योहारों के कार्यक्रमों का संयोजन करेगा। साप्ताहिक अधिवेशनों में सामूहिक-रूप से सम्पन्न होने वाले संध्या एवं अग्नि-होत्र भी इसी सुयोग्य, सुपठित एवं शास्त्रज्ञ, कर्मकाण्डवेत्ता पुरोहित के मार्ग दर्शन में सम्पन्न होने चाहिये। ईश्वर भक्ति के सरस, भावपूर्ण और उद्बोधक भजनों का सामूहिक गायन जिस भक्तिपूर्ण वातावरण का सर्जन करते है उसे देखते हुए आर्य समाज के रससिद्ध कवियों यथा अमीचन्द, मेहता, नाथूराम शंकर, शर्मा, नारायण प्रसाद, बेताब, वासुदेव, प्रकाशचन्द्र कविरत्न आदि के काव्य रस पूर्ण भजनों का गायन अपेक्षित है। परन्तु यदि कबीर, नानक आदि के निर्गुण तत्व का प्रतिपादन करने वाले पदों का भी गायन हो तो उससे भी आध्यात्मिक वातावरण का ही निर्माण होगा। सत्संगो में कराये जाने वाले प्रवचनों का आधार वेद मंत्र ही होने चाहिए। उपदेशों में विषयान्तर, अना-वश्यक दृष्टान्त, राजनैतिक आन्दोलनों की चर्चा एवं आलोचना उनके महत्व एवं गुरुत्ता को न्यून करते है। आर्य समाज की वेदी की मर्यादा, पवित्रता तथा अनुशासन की रक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

आर्य समाज मंदिरों की स्थिति

आर्य समाज मंदिरो की भव्यता, पवित्रता तथा आकर्षण के केन्द्र होने चाहिये। वहां जाने पर प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करे कि वह एक उपासना स्थल में पहुंच गया है। और आध्यात्मिकता की सर्वोत्तम ज्योति उसके चारों ओर प्रसारित हो रही है यह तभी संभव है जब हम यह अनुभव करें कि आर्य समाज मूलतः एक धर्म संस्था तथा उसका मंदिर एक पुनीत उपासना स्थल है। यद्यपि आर्य समाज मंदिरों मे किसी प्रकार की देवमूर्ति, प्रतिमा प्रतिकृति या ईश्वर के काल्पनिक प्रतीक की पूजा-अर्चा के लिए कोई स्थान नहीं है तथापि पावनता, शुद्धता तथा सात्विकता के लिए उसे किसी भी अन्य देव मंदिर, गुरु द्वारे या गिरजे की ही भांति समझना चाहिये। यह लिखने में हमें कोई संकोच नहीं होता कि आज समाज मंदिर, सर्वथा उपेक्षा, अवहेलना तथा तिरस्कार के पात्र बने हुए है। मंदिरों की शुचिता तथा उनके मर्यादा रक्षण की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता। अनेक समाजमंदिर तो ऐसे ही है जिनके ताले भी नहीं खुलते। अन्य समाज मंदिरों में से कन्या पाठशालायें या अन्य विद्यालय स्थापित हैं, अथवा उनका कोई भाग किराये पर उठा दिया गया है। यह एक विडम्बना ही है कि जो आर्य समाज बृहत्तर हिन्दू समाज के उपासना स्थलों की रक्षा

करने के लिए बड़े से बड़ा खतरा भी उठाने के लिए तैयार रहता हैं. उसी संस्था के अपने उपासनालय ही उपेक्षा के शिकार हो रहे है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि आर्य समाज मंदिरों को सच्चे अर्थों में उपासना स्थल बनाया जाय, जहाँ जाने मात्र से ही व्यक्ति के हृदय में आध्यात्मिक भाव तरंगे उद्वेलित होने लगे तथा वह संध्योपासना, अग्निहोत्र भजन एवं स्वाध्याय जैसे कृत्यों में पूर्ण अभिरुचि ले सके। समाज मंदिर का मुख्य उपासना भवन विशाल, महापुरुषों के चित्रों से सुसज्जित, हवनपात्रों, स्वध्याय योग्य ग्रन्थों तथा अन्य उपयोगी सामग्री से परिपूर्ण होना चाहिए। मंदिर में स्नानागार, शौचालय, सेवक के निवास आदि के लिये पृथक् स्थान होना अपेक्षित है। लोगों को अधिकाधिक आकर्षित करने के लिय मल्ल शालायें व्यायाम शालायें अखाड़े, वाचनालय आदि का संचालन भी किया जा सकता हैं। यदि दैनिक सत्संगों की व्यवस्था हो सके तो आर्य समाज के सदस्यगण ही सपरिवार उसमें भाग लेकर अन्यों के लिए अनुकरण उपस्थित करें। समाज के अधिकारियों का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वे समाज मंदिर को एक भव्य तथा आकर्षक रूप प्रदान करे।

आर्य समाज के उपदेशक

वैचारिक क्रान्ति को गति देने वाला उपदेशक मण्डल ही किसी आन्दोलन की रीढ़ होता है। कोई भी संस्था अपने विशाल भवनों, अट्टालिकाओं अथवा अन्य भौतिक सभारों के कारण न तो लोकप्रियता ही अर्जित करती है और न उस के द्वारा व्यापक लोकहित का साधन ही होता है। वस्तुतः संस्थाओं को प्राणवान बनाने वाले वे उपदेशक और प्रचारक होते है जो निश्चित ध्येय की पूर्ति के लिए 'कार्यं वा साध्येयम् शरीरं वा पातयेयम्' का लक्ष्य लेकर प्रचार क्षेत्र में अवतरित होते हैं। निश्चय ही आर्य समाज का वह स्वर्ण युग था जब पं० गुरुदत्त जैसे मनस्वी, पं० लेखराम जैसे बलिदान की भावना से सम्पन्न स्वामी श्रद्धानन्द जैसे अपूर्व त्यागी तथा स्वामी दर्शनानन्द जैसे अध्ययनशील, तर्क पटु तथा विचक्षण उपदेशक- प्रचार क्षेत्र में अपना योगदान कर रहे थे। उपदेशकों के प्रशिक्षण हेतु लाहौर में दयानन्द उपदेशक विद्यालय' तथा आगरा में आर्य मुसाफिर विद्यालय चलाया जाता था। इन उपदेशक विद्यालयों में जहां वैदिक शास्त्र, अन्य धर्म ग्रन्थ, न्याय, दर्शन, तर्क आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी, वहां अध्येता छात्रों को वक्तृत्व कला, शास्त्रार्थ कला एवं वादविवाद का सर्वांगीण प्रशिक्षण भी दिया जाता था। लाहौर का उपदेशक विद्यालय स्वामी

स्वतंत्रानन्द तथा स्वामी वेदानन्द जैसे महान् वैदुष्य सम्पन्न संन्यासियों के द्वारा संचालित होता था। आगरे के उपदेशक विद्यालय की स्थापना पं० भोजदत्त ने उस अमर हुतात्मा, आर्यपथिक लेखराम की स्मृति में की, जिसने वैदिक धर्म के प्रचारार्थ अपने शरीर की आहुति दे डाली था। पं० महेश प्रसाद मौलवी, आलिम फाजिल, ठाकुर अमर सिंह (वर्तमान में अमर स्वामी सरस्वती) तथा कु० सुखलाल आर्य मुसाफिर जैसे योग्य उपदेशकों को तैयार करने का श्रेय मुसाफिर विद्यालय क ह है।

आज आर्यसमाज में उपदेशकों के प्रशिक्षण की कोई समुचित व्यवस्था नहीं है। ईसाई धर्म प्रचारक जिस प्रकार समर्पित जीवन वाले व्यक्तियों का चयन कर उन्हें धर्म प्रचार के लिए प्रशिक्षण देते हैं, उसी प्रकार आर्य समाज को भी अपने भावी आन्दोलन को गति देने के लिए एक केन्द्रीय उपदेशक विद्यालय की अविलम्ब स्थापना करनी चाहिए। उपदेशक गण अपनी अपनी रुचि के अनुसार विशिष्ट अध्ययन सम्पन्न हों तथा परमत समीक्षण में भी विशेष योग्यता अर्जित करें। संगीत भी धर्म प्रचार का एक सशक्त माध्यम है, किन्तु तथ्य यह है कि आर्य समाज में संगीत कला निष्णात भजनोपदेशकों की संख्या नगण्य हैं। अतः संगीत की उच्च शिक्षा की व्यवस्था होना आवश्यक है। उपदेशक वर्ग को समाज के सभी वर्गों का सम्मान तभी प्राप्त होगा, जब प्रथम, आर्य समाज के अधिकारी और नेतागण ही उन्हें सम्मान प्रदान करें। जिस प्रकार ईसाइयों के पादरी गण तथा गुरुद्वारे के ग्रन्थी लोग अपने अपने समाज के व्यक्तियों का सम्मान अर्जन करते हैं, उसी प्रकार आर्य उपदेशकों को भी सम्मान मिलना चाहिये। जस संस्था का उपदेशक समाज ही अपने अनुयायियों का श्रद्धा-भाजन नहीं होगा, उसकी बात अन्य लोग क्यों सुनेंगे ?

समय समय पर उपदेशक गण कार्य से अवकाश लेकर अपने स्वाध्याय की वृद्धि करने हेतु किसी निश्चित स्थान पर रहकर अधिक योग्यता सम्पादन करें तथा अधिक प्रौढ़ता एवं प्रबुद्धता प्राप्त करने का यत्न करें, यह भी आवश्यक है। इस कार्य हेतु 'Refreshers' Training Centre' स्थापित होने चाहिये। उनके अवकाश ग्रहण कर लेने पर पुरस्कार, पेंशन आदि की सुविधायें न केवल कृतज्ञता ज्ञापनार्थ अपितु इस कार्य में अधिक लोग रुचि लें, इसलिये भी आवश्यक है।

आर्य समाज का साधु वर्ग

आर्य समाज की स्थापना एक संन्यासी ने की थी जिसने लोकहित के लिए अपना वैभव सम्पन्न गृह तथा स्नेहास्पद परिजनों का त्याग किया ही, साथ ही

मानव जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष तथा उसके साधन भूत समाधि के आनन्द को भी छोड़ दिया था। इस अद्वितीय अपरिग्रही, परिव्राजक, शिरोमणि दयानन्द के आर्य समाज में कालान्तर में उच्च कोटि के संन्यासी हुये जिन्होंने अपने त्याग, तप, तथा आत्मिक बल से देश, जाति और धर्म का अभ्युत्थान किया। स्वामी श्रद्धानन्द जैसे राजर्षि, स्वामी सर्वदानन्द जैसे वीतराग तपस्वी, महात्मा नारायण स्वामी जैसे-नेतृत्व की अपूर्व क्षमता रखने वाले परिव्राजक तथा स्वामी वेदानन्द जैसे वैदुष्य के भण्डार साधुओं पर आर्य समाज उचित गर्व कर सकता है। आर्य समाज के जीर्ण शीर्ण अंगों में संजीवनी शक्ति का संचार करने वाले संन्यासियों का अभाव ही दृष्टि गोचर होता है। यद्यपि वर्णाश्रम को मानव जीवन की एक आदर्श व्यवस्था के रूप में आर्य समाज ने स्वीकार किया। किन्तु उसे क्रियात्मक रूप देने वालों की संख्या स्वल्प ही रही है।

आर्य समाज का भविष्य उन अद्वितीय संकल्प शक्ति का सम्पन्न, जीवन-दानी साधुओं के द्वारा ही निर्धारित होगा जो वैदिक धर्म और संस्कृति को विश्व व्यापी बनाने के लिए सर्व त्यागी बनकर, 'दयानन्द परिव्राजक मन्डल का संगठन करेंगे। इन्ही संन्यासियों से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वे आर्य समाज के संस्थापक के स्वप्न को चरितार्थ करें तथा भूमण्डल के मानवों का वैदिकीकरण तथा आर्यकरण कर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम' के लक्ष्य की पूर्ति कर सके। इतिहास साक्षी है कि वैचारिक क्रान्ति को सम्पन्न करने में साधु-वर्ग का कितना हाथ रहा है। शंकराचार्य ने अपने वेदान्त का प्रचार चतुर्दिक भ्रमण करने वाले संन्यासियों के माध्यम से ही किया। ईसा के प्रेम, दया और सेवा का संदेश भूमण्डल पर प्रसरित करने वाले लोग वीतराग संत ही थे। बौद्ध और जिस जैनधर्म की नैतिक शिक्षाओं का सर्वत्र प्रसार भिक्षुओं और श्रमणों के द्वारा हुआ। अधिक दूर क्यों जायें, रामकृष्ण मिशन के रूप में स्वामी विवेकानन्द ने सेवा एवं त्याग के मूर्तिमान संन्यासि मण्डल का गठन किया है, उसे ही आदर्श मानकर आर्य समाज को भी अपने परिव्राजक मण्डल का संगठन करना चाहिए इस साधु मण्डली का आदर्श लोक सेवा, शिक्षा प्रचार तथा जन जागरण रहे। भारत के लाखों ग्राम आज वैदिक संस्कृति के उदात्त तत्वों को जानने तथा वैदिक धर्म की गरिमा से परिचित होने के लिए लालायित हो रहें है।। ईसाई प्रचारक अपनी सेवा संस्थाओं के बल पर आदिवासियों,जनजातियों तथा दलित वर्गों में जिस प्रकार अपनी विचारधारा का प्रचार करते है,उनकी प्रतिद्वन्दिता में आर्यसमाज के साधुओं को भी इन पिछड़े क्षेत्रों को अपना कार्यक्षेत्र बनाना होगा। दलित वर्ग का उत्थान करने में राजनीतिज्ञ कभीसफल नहीं हो

सकेंगे क्यों कि स्वार्थ पूर्ति में तत्पर, इस वर्ग के लोगों ने तो अपनी छल, कपट एवं प्रपच पूर्ण कूटनीति का प्रचार ग्रामों में भी कर दिया है। फलतः वहाँ का सहज सरल वातावरण दूषित हो चुका है। दयानन्द के मिशन को कृतकार्य करने वाले ये संन्यासी यदि शिक्षा, चिकित्सा, सेवा तथा लोक शिक्षण के माध्यम से प्रचार कार्य करें तो देश की कोटि कोटि जनता आर्य समाज की ओर अनायास ही आकृष्ट होगी और उसका भावी आन्दोलन सच्चे अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव का प्रसारक हो जायगा।

—

अध्याय १२

साधन और उपाय

वैचारिक क्रान्ति का वाहक-साहित्य

साहित्य विचारों का वाहक होता है। आज के युग में प्रेस और मंच ही ऐसे साधन हैं जिन से विचारों के प्रसार में सहायता मिलती हैं। खेद है कि आर्यसमाज ने मंचीय प्रचार-तंत्र का तो पूरा उपयोग किया, परन्तु सशक्त साहित्य के द्वारा प्रबुद्ध वर्ग के लोगों तक अपने विचारों को सम्प्रेषित करने की अधिक चिन्ता नहीं की। यही कारण है कि आज के विद्यार्थी, अध्यापक, पत्रकार अथवा साहित्यकार को आर्यसमाज की देशव्यापी भूमिका तथा मानवहित के लिए उसके द्वारा किये गये कार्यों की अधिक जानकारी नहीं है। पं० लेखराम का आर्यसमाज को अन्तिम संदेश था कि तहरीर (लेखन) का काम बन्द नहीं होना चाहिए'। हम अमर शहीद की उक्त इच्छा को पूरा नहीं कर पाये। आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने अपने अत्यन्त व्यस्त एवं कार्य-संकुल जीवन में भी साहित्य प्रणयन के लिये पर्याप्त समय निकाला और स्वल्प अवधि में ही सहस्रों पृष्ठों का साहित्य हमारे लिए दाय के रूप में छोड़ गये थे। स्वामी जी ने वेदभाष्य (अपूर्ण) के अतिरिक्त सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका तथा संस्कार-विधि जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे जिन्हें आर्यसमाज की 'प्रस्थानत्रयी' कहा जा सकता है। कारण स्पष्ट है। 'भूमिका' में वेद का वास्तविकस्वरूप निर्धारित किया गया है। वह 'श्रुति-प्रस्थान' है। कर्मकाण्ड का विधायक ग्रन्थ 'संस्कार विधि' आर्यों की एक सर्व सम्मत स्मृति है, अतः इसे 'स्मृति-प्रस्थान' कहना समीचीन ही है। 'सत्यार्थ-प्रकाश' युक्ति एवं तर्क पर आधारित विवेचना प्रधान ग्रन्थ है, अतः उसे 'तर्क-प्रस्थान' के नाम से अभिहित करना चाहिए।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त स्वामी जी ने वेदांग-प्रकाश, खण्डन-मण्डन के लघु ग्रन्थ तथा बालकों की शिक्षा केलिए 'व्यवहार भानु', संस्कृत-वाक्य-प्रबोध' आदि अन्य उपयोगी ग्रन्थ भी लिखे।

महर्षि के पश्चात् पं० लेखराम, पं० गुरुदत्त, स्वामी श्रद्धानन्द, पंडित राजाराम, महामहोपाध्याय प० आर्यमुनि, पं० तुलसीराम स्वामी, पं० चमूपति आदि विद्वानों ने साहित्य लेखन के क्षेत्र में अपूर्व कार्य किया और सहस्रों उच्च

कोटि के ग्रन्थ लिखकर आर्यसमाज के सारस्वत-भंडार को समृद्ध किया। परन्तु कालान्तर में हमने साहित्य लेखन के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करनी आरम्भ की। आज तो स्थिति इतनी विषम है कि दो-चार लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों के अतिरिक्त हमें साहित्य का क्षेत्र प्रायः शून्य सा ही दृष्टिगोचर होता है।

आर्यसमाज जैसे जन-आन्दोलन के लिए जो केवल इस देश के ही नहीं अपितु संपूर्ण मानव जाति के कल्याण का दायित्व लेता है, साहित्य की उपेक्षा घातक है। विभिन्न धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्य विचारधाराओं का प्रचार करने वाली संस्थायें साहित्य के माध्यम से अपनी मान्यताओं का व्यापक प्रचार किस प्रकार करती हैं, इसे सिद्ध करने के लिए उदाहरण देना आवश्यक नहीं है। पौराणिक विचारधारा का प्रचार गीता प्रेस, गोरखपुर के माध्यम से होता है। 'नार्थ इण्डिया क्रिश्चियन ट्रेक्ट एण्ड बुक सोसाइटी' ईसाई मत के प्रचार में विगत सौ वर्ष से निरन्तर सहयोग दे रही है। अधिक दूर क्यों जावें, गायत्री के माध्यम से अनेक पौराणिक भावों के प्रचारक मथुरा निवासी श्रीराम शर्मा ने ही अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए विपुल साहित्य लिखा है। जैनों का तेरापंथी सम्प्रदाय जिस व्यवस्थित रीति एवं सूजबूझ के साथ साहित्य के द्वारा अपनी मान्यताओं का प्रचार कर रहा है, वह वस्तुतः दर्शनीय एवं अनुकरणीय है। साहित्य को प्रचार के एक सबल माध्यम के रूप में अपनाने में इस्लाम भी पीछे नहीं रहा। उसके मान्य ग्रन्थ कुरान के हिन्दी अनुवाद, विभिन्न पुस्तकों के लेखन और प्रकाशन तथा 'कांति' जैसी हिन्दी पत्रिका के व्यवस्थित संचालन ने यह सिद्ध कर दिया है कि आज इस्लाम के अनुयायी भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से ही अपने मजहब का प्रचार अभीष्ट समझते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य की उपेक्षा करना आत्मघाती होगा।

हमारे समक्ष रामकृष्ण मिशन की साहित्यिक प्रवृतियां आदर्श रूप में उपस्थित हैं। १९६४ ई० में स्वामी विवेकानन्द की जन्म शताब्दी के अवसर पर रामकृष्ण, विवेकानन्द की विचारधारा का साहित्य अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से देश-विदेश की अनेक भाषाओं में प्रकाशित किया गया। विवेकानन्दग्रन्थावली के रूप में सम्पूर्ण 'विवेकानन्द साहित्य' को सुव्यवस्थित ढंग से प्रकाशित करना एक उपलब्धि ही थी। इससे पूर्व भी मिशन ने अंग्रेजी, हिन्दी एवं अन्य भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में विवेकानन्द प्रतिपादित विचारधारा का प्रचार करने हेतु उच्चकोटि के ग्रन्थ प्रकाशित किये थे। श्रीरामकृष्ण की जन्म शताब्दी पर प्रकाशित ' Cultural Heritage of India ' नामक पुस्तक अपने आप में एक अद्वितीय वस्तु थी

यह बात नहीं कि आर्यसमाज ने समय समय पर उच्च कोटि के साहित्यिक प्रकाशन न किये हों। स्वामी दयानन्द की जन्म शताब्दी के अवसर पर महात्मा नारायण स्वामी जैसे मनीषी साहित्यकार के निर्देशन में अनेक प्रौढ़ ग्रन्थों का सम्पादन एवं प्रकाशन हुआ। सत्यार्थ-प्रकाश का संस्कृत अनुवाद, आर्य-पर्व-पद्धति का सम्पादन इसी वर्ष की उपलब्धि थी। उस अवसर पर परोपकारिणी सभा ने भी समग्र दयानन्द साहित्य को दयानन्द-ग्रन्थमाला (शताब्दी संस्करण) के रूप में दो भागों में प्रकाशित किया तथा Dayanand-Commemoration Volume' जैसे मानक ग्रन्थ का प्रकाशन भी किया। आज आर्यसमाज की स्थापना शताब्दी के अवसर पर साहित्य लेखन एवं प्रकाशन की एक बृहद् योजना क्रियान्वित की जानी चाहिए। इसके अन्तर्गत जो ग्रन्थ छपें वे क्या भाव और क्या भाषा, प्रत्येक दृष्टि से उच्चस्तरीय हों। साहित्य प्रकाशन के लिए निम्न रूपरेखा के आधार पर कार्य करना अधिक उपयोगी एवं लाभदायक होगा।

(१) महर्षि दयानन्द रचित समस्त ग्रन्थों को सुव्यवस्थित रूप से एक ही आकार की ग्रन्थावली में प्रकाशित किया जाय।

(२) दयानन्द रचित ग्रन्थों की व्याख्या और भाष्य स्वरूप टीका ग्रन्थ लिखाये जायें।

(३) वेदों के सम्बन्ध में आर्यसमाज के दृष्टिकोण की स्थापना करने वाला उच्चकोटि का विवेचनात्मक साहित्य छपे। इसमें महर्षि दयानन्द की वेद विषयक दृष्टि का प्रौढ़ विश्लेषण होने के साथ साथ अन्य पौरस्त्य एवं पाश्चात्य मतों की मार्मिक समालोचना भी अपेक्षित है।

(४) विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त धर्म एवं दर्शन के तुलनात्मक-अध्ययन विषयक ग्रन्थों का प्रकाशन भी आवश्यक है

(५) आर्यसमाज के सिद्धान्त और मन्तव्य, आर्यसमाज का इतिहास, आर्यसमाज के दिवंगत नेता, विद्वान्, साहित्यकर्मी तथा सेवकों की शोध प्रधान जीवनियों का प्रकाशन भी भावी पीढ़ी के लिये प्रेरणास्पद होगा।

(६) स्वामी दयानन्द का बृहद् प्रामाणिक जीवन चरित प्रकाशित करना नितान्त आवश्यक है। इस जीवनी में चरित नायक के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सर्वांगीण मूल्यांकन तो अपेक्षित है ही, चेष्टा यह भी होनी चाहिए कि परिस्थितियों और परिवेश के संदर्भ में स्वामी दयानन्द के

कार्यों की महत्ता स्थापित की जाय। तेंदुलकर रचित महात्मा गांधी की जीवनी इस जीवन-चरित लेखन के लिये आदर्श प्रस्तुत कर सकती है।

(७) प्रचारात्मक साहित्य की अनिवार्यता भी निर्विवाद है। गम्भीर रचानाओं की ही भांति आर्यसमाज के सिद्धान्तों और कार्यों का परिचय करने वाले लघु ग्रन्थ, ट्रैक्ट सरल भाषा में लिखी गई प्रचारात्मक पुस्तिकाओं का सुव्यवस्थित प्रकाशन भी अपेक्षित है।

उच्च कोटि के साहित्य का लेखन तभी सम्भव है जब इसके लिए प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकारों को उचित प्रोत्साहन और प्रश्रय प्राप्त हो। स्वमी विवेकानन्द ने अपने गुरु श्री रामकृष्ण की जीवनी लिखने के लिए प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ मैक्समूलर को प्रेरित किया था। रामकृष्ण-मिशन ने ही फ्रेंच लेखक और मनीषी रोमां रोला को प्रेरणा देकर श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की विख्यात विवेचनात्मक जीवनियां लिखवाई। लेखकों के प्रोत्साहन के लिए साहित्यिक पुरस्कारों का प्रचलन तथा समय समय पर उन्हें सम्मानित करना आवश्यक है। महर्षि दयानन्द पुरस्कार, पं० लेखराज पुरस्कार तथा पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय स्मारक पुरस्कार जैसी पुरस्कार योजनायें सुव्यवस्थित ढंग से क्रियान्वित होती रहें तथा ग्रन्थों के मुद्रण एवं प्रकाशन की व्यवस्था अखिल भारतीय स्तर पर की जाय तो निश्चय ही साहित्यकारों को उच्च कोटि के साहित्य लेखन की प्रेरणा मिलेगी और यह साहित्य आर्यसमाज के भावी आन्दोलन को अधिक स्फूर्ति युक्त, प्राणवान् तथा गतिशील बनायगा।

आर्य समाज ने भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी में तो प्रचुर साहित्य लिखा, परन्तु अन्य भारतीय भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं में इसका मौलिक अथवा अनूदित साहित्य स्वल्प मात्रा में ही है। महर्षि दयानन्द रचित सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद भारत की प्राय: सभी प्रमुख भाषाओं में हुआ है, परन्तु इस क्रान्तिकारी ग्रन्थ को बाइबिल की ही भांति विश्व की अधिकांश भाषाओं में रूपान्तरित किया जाना चाहिए। आज दक्षिण-भारतीय तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम भाषाओं में आर्य समाज के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराने वाले ग्रन्थ थोड़े ही हैं। इसी प्रकार आदिवासी, पहाड़ी तथा जन-जातियों की भाषाओं में भी वैदिक धर्म का प्राणवान् संदेश गुंजरित हो, इसके लिए आवश्यक है एक विशाल साहित्य संगम (अकादमी) तथा अनुवाद केन्द्र की स्थापना। आर्यसमाज के सर्वोच्च संगठन सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि-सभा के

तत्त्वावधान में आर्यसमाज का केन्द्रीय साहित्यप्रकाशन-संस्थान स्थापित होना चाहिए। प्रान्तीय सभायें अपने अपने प्रान्तों की बोलियों और भाषाओं में साहित्य लेखन तथा अनुवाद का कार्य सम्पन्न करा सकती हैं। वैचारिक क्रान्ति का वाहक काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी आदि सर्जनात्मक साहित्य को भी माना जा सकता है। इस ललित एवं रसपूर्ण साहित्य के माध्यम से भी लेखकों ने अपनी विचारधाराओं का प्रचार किया है। आर्यसमाज में ऐसे कारयित्री प्रतिभा के धनी कलाकारों की कमी नहीं है। पुनः हम क्यों नहीं उनकी प्रतिभा का सदुपयोग अपने आन्दोलन को गतिशील बनाने में करें? साहित्य का मुद्रण एवं प्रकाशन भी एक कला है, अतः 'गैट-अप,' छपाई-सफाई, साज-सज्जा तथा नयनाभिराम मुख-पृष्ठ आदि की ओर ध्यान देकर पुस्तक प्रकाशन को अधिक उपयोगी और सार्थक बनाया जा सकता है।

पत्र पत्रिकायें और धर्म-प्रचार

आर्यसमाज अपने शैशवकाल से ही पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपनी विचारधारा का प्रचार कर रहा है। स्वामी दयानन्द ने फर्रूखाबाद से 'भारत सुदशा प्रवर्तक' नामक मासिक-पत्र के प्रकाशन की प्रेरणा दी। वैदिक-यंत्रालय के प्रथम व्यवस्थापक मुन्शी बख्तावरसिंह ने 'आर्य दर्पण' का प्रकाशन भी महर्षि के जीवन काल में ही किया था। तब से लेकर एक शताब्दी का समय हुआ, आर्यसमाज ने पत्र-पत्रिकाओं को महर्षि के स्वप्नों की पूर्ति का एक सशक्त माध्यम स्वीकार किया है। आर्यसमाज ने हिन्दी-जगत् को समर्पित व्यक्तित्व वाले, उच्चकोटि के आदर्श पत्रकारों की एक जीवन्त परम्परा ही प्रदान की है। सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा, पं० पद्मसिंह शर्मा, डॉ० हरिशंकर शर्मा, पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति आदि तो आर्यसमाज के वे गण्यमान्य पत्रकार हैं जिन्होंने अपना समस्त जीवन ही इस कार्य हेतु समर्पित कर दिया था।

खेद है कि आज आर्यसमाज के पत्रों की स्थिति न तो सुखद है और न सन्तोषप्रद। संख्यात्मक दृष्टि से भले ही आर्यसमाज की पत्र-पत्रिकायें अधिक संख्या में छपती हों परन्तु गुणात्मक दृष्टि से उन्हें सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता। न तो ये पत्र आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हैं और न इनमें रोचक उपयोगी अथवा प्रेरणास्पद सामग्री का ही प्रकाशन होता है। अधिकांश पत्र-पत्रिकायें सभा-संस्थाओं के मुख-पत्र (गजट) ही होते हैं जिनमें सामयिक अधिकारियों के सस्तवन अथवा प्रशस्ति-पाठ के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इन पत्रों की ग्राहक संख्या इतनी न्यून होती है कि ये आजीवन घाटे

में ही चलते हैं। जहां आर्यसमाज के पत्रों की यह स्थिति है, वहां अन्य धर्म एवं मत सम्प्रदायों के पत्र अत्यन्त सुव्यवस्थित तथा आकर्षक ढंग से प्रकाशित होकर लाखों पाठकों तक अपनी विचारधारा का प्रसार करते हैं। क्या इसे अस्वीकार किया जा सकता है कि गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'कल्याण' के लाखों ग्राहक हैं तथा वह अपने साधारण एवं विशेषांकों के माध्यम से पुराण-प्रतिपादित धर्म का व्यापक प्रचार कर रहा है। 'पांचजन्य' 'राष्ट्र-धर्म' तथा 'ORGANISER' आदि पत्र भी राष्ट्रीय-स्वयं-सेवक-संघ के विचारों का देश व्यापी प्रचार करने के उत्कृष्ट माध्यम हैं।

आर्यसमाज भी अपने पत्रों को महर्षि के संदेश का उद्घोषक एवं प्रचारक बनाकर वैदिक विचारधारा को विश्व व्याप्ति प्रदान करे, एतदर्थ हमें निम्न सुझावों पर ध्यान देना होगा —

(१) आर्यसमाज का एक प्रभावशाली दैनिक पत्र हो जो सामान्य समाचारों के साथ-साथ आर्यसमाज के दृष्टिकोण को भी जनता तक पहुंचाये।

(२) हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा में भी एक उच्चकोटि का मासिक पत्र प्रकाशित किया जाय जो आर्यसमाज के वेद विषयक दृष्टिकोण को अंग्रेजी भाषी पाठकों तक पहुंचाने में समर्थ हो।

(३) संस्कृत के विद्वत्मण्डल तथा गीर्वाण-वाणी के प्रेमी पाठकों के लिए संस्कृत भाषा में एक साहित्यिक विचार-प्रधान पत्रिका का प्रकाशन भी आवश्यक है।

(४) विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में भी आर्यसमाज की विचारधारा का वहन करने वाले साप्ताहिक एवं मासिक पत्र प्रकाशित हों, जिनमें वेद-व्याख्या, सिद्धान्त-चर्चा, नारी-संसार, बाल-जगत्, शंकासमाधान आदि के विविध उपयोगी एवं रोचक स्तम्भ रहें।

पुस्तकालय और विचार क्रान्ति

आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने अपनी संस्था को बौद्धिक-धरातल पर प्रतिष्ठित किया था। उनकी यह हार्दिक कामना रही कि आर्य-समाज का प्रत्येक समासद प्रवुद्ध-अभिरुचि सम्पन्न, विचारशील, मनस्वी तथा मेधावी हो। इसी दृष्टि से उन्होंने आर्यसमाज के विधान में एक पुस्तकाध्यक्ष

का पद भी रक्खा जो प्रत्येक आर्यसमाज में पुस्तकालय का संचालन करता है। आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी के व्यक्ति अत्यधिक स्वाध्यायशील तथा शास्त्रीय अध्ययन में रुचि लेने वाले होते थे। वस्तुतः किसी भी अन्य धार्मिक या राजनैतिक सभा में पुस्तकाध्तक्ष जैसा न तो कोई पद है और न वहां पुस्तकालयों की व्यवस्था का ही विधान है।

आर्यसमाज की कार्य प्रणाली में स्वाध्याय को संवल प्रदान करने वाले पुस्तकालयों की सुरक्षा और संचालन का प्रावधान रखा गया है, किन्तु यह अनुभव कर पीड़ा भी होती है कि आज आर्यसमाजों के पुस्तकालय और पुस्तकाध्यक्ष सर्वाधिक उपेक्षा तथा अवगणना के शिकार हो रहे हैं। चुनावों की दलवन्दी के फलस्वरूप चाहे किसी अपने 'पक्ष-समर्थक को पुस्तकाध्यक्ष के पद पर आसीन कर दिया जाय, परन्तु निर्वाचन के पश्चात् यह कभी अपेक्षा नहीं रखी जाती कि पुस्तकाध्यक्ष अपने कर्तव्य-पालन में कितनी तत्परता तथा दक्षता प्रदर्शित कर रहा है। यद्यपि विभिन्न आर्यसमाजों के प्राचीन पुस्तकालयों में सहस्रों की संख्या में दुर्लभ, प्राचीन एवं अलभ्य ग्रन्थरत्न पड़े-पड़े सड़ रहे हैं अथवा दीमकों के आहार बन रहे हैं, परन्तु न तो उन्हें पाठकों के लिए ही सुलभ बनाया जाता है और न अनुसंधान एवं शोध के क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वान् ही उनका उपयोग ले पाते हैं।

अयः अवश्यक है कि केन्द्रीय एवं प्रान्तीय राजधानियों में आर्य समाज के विशाल ग्रन्थालय रहें। इन पुस्तकालयों की देखरेख ऐसे अध्ययन-शील व्यक्तियों के जिम्मे रखी जाय जो स्वयं पुस्तकों के वैज्ञानिक संरक्षण को जानते हों। पुस्तकालयों के साथ-साथ अध्ययनप्रिय छात्रों तथा शोध-विद्वानों के निवास की व्यवस्था भी रहे, जहां पर्याप्त समय तक ठहर कर अपना अध्ययन-कार्य कर सकें। समाजों के वार्षिक बजट में नई पुस्तकों के क्रय हेतु पर्याप्त राशि का प्रावधान होना चाहिए। प्रत्येक आर्यसमाज के ग्रन्थालय में वेद, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन, वेदांग, दयानन्द-वाङ्मय तथा अन्य उपयोगी ग्रन्थ प्रचुर संख्या में रहने चाहियें। पुस्तकालयों के अन्तर्गत पुस्तक-विक्रय-विभाग भी रहें जिनमें नवीन प्रकाशित पुस्तकों को आर्य समाजेतर पाठकों तक पहुँचाने की व्यवस्था हो।

आर्यसमाज की विभिन्न प्रवृत्तियों तथा उपलब्धियों पर आज स्वदेशी तथा विदेशी विश्वविद्यालयों में जो बहुविध अनुसधान कार्य हो रहे हैं, तथा प्रतिवर्ष अनेक विदेशी विद्वान् भारत में आकर आर्यसमाज विषयक साहित्य का अनुसंधान करते हैं उनकी सुविधा के लिये आर्यसमाज से सम्बन्धित

समग्र प्रकाशित साहित्य की एक विशाल सूची (Bibliography) तैयार कराकर उसे प्रकाशित किया जाना चाहिए। इस ग्रन्थ-सूची में समस्त ग्रन्थों को विषयानुसार वर्गीकृत किया जाय तथा यथासंभव लेखक, प्रकाशक, प्रकाशन-काल तथा संस्करण का भी उल्लेख रहे। इसी प्रकार आर्यसमाज के साहित्य का इतिहास भी तैयार किया जाना चाहिए तथा विभिन्न भाषाओं में लेखन कार्य करने वाले दिवंगत एवं विद्यमान आर्य लेखकों का विवरण एकत्रित किया जाना भी आवश्यक है।

—०—

अध्याय १३

साधन और उपाय

आर्यसमाज में उच्चस्तरीय अनुसंधान : वर्तमान स्थिति और भावी दिशा

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के माध्यम से जिस व्यापक जन-जागरण तथा धर्म-चेतना को स्फूर्त किया, उसका एक सुदृढ़ आधार वैदिक-चिन्तन तथा आर्ष-प्रज्ञा का प्रोज्ज्वल प्रकाश ही था। उनकी यह सुविचारित धारणा थी कि वेद में निहित शिक्षाओं का प्रचलन ही मानव के त्राण का एकमात्र उपाय है। आवश्यकता इस बात की है कि वैदिक साहित्य में विद्यमान विभिन्न विद्याओं, रहस्यों तथा उनके मूल अभिप्राय को स्पष्ट करने की चेष्टा की जाय। यह हम पूर्व ही लिख चुके हैं कि वेद के प्रति दयानन्द की आस्था किसी परम्परागत विश्वास अथवा रूढिवद्ध धारणा का अंधानुसरण नहीं करती। उन्होंने स्वयं वेदानुसंधान की दिशा में दीप-स्तम्भवत् कार्य किया। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में पृथिव्यादिलोक भ्रमण, धारणाकर्षण (Gravitation) प्रकाश्यप्रकाशक, विषय, गणित विद्या, नौविमानादि विद्या, तार विद्या (Telegraphy) वैद्यक शास्त्र (Medicine) आदि विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों का मूल वेदमें सिद्ध कर स्वामी जी ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि वैज्ञानिक दृष्टि से वैदिक अनुसंधान के क्षेत्र में प्रवेश किया जाये तो उस में अपार सम्भावनायें निहित हैं। वेद के प्रति उनकी अगाध निष्ठा का एक महत्त्वपूर्ण कारण यही था कि वे मानव के इस प्राचीनतम ज्ञान को उच्चतम भावों एवं विचारों का भाण्डागार समझते थे। फलत: वेद न केवल मानव की आध्यात्मिक जिज्ञासा का समाधान करने में ही समर्थ हैं, अपितु वह उसके सामाजिक आचरण, राजनीतिक व्यवहार तथा दैनन्दिन इतिकर्तव्यों की भी व्याख्या करता है, यह उनका स्पष्ट मत था।

स्वामी दयानन्द के परवर्ती वैदिक विद्वानों ने अपने विशद अध्ययन और वैदुष्य के द्वारा अनुसधान एवं शोध के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। उन्होंने वेद के विषय में स्वामी दयानन्द की धारणाओं को पुष्ट करने की चेष्टा की, साथ ही दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट वैदिक-अनुसंधान की दिशा को भी स्पष्ट किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन भारतीय तथा विदेशी विद्वानों

ने एक बार दयानन्द निर्दिष्ट वेदाध्ययन की पद्धति को अस्वीकार कर दिया था, अब वे उसकी महत्ता एवं उपयोगिता को अनुभव करने लगे तथा दयानन्द प्रतिपादित वैदिक मन्तव्यों की वैज्ञानिकता को स्वीकार करने में उन्हें कोई संकोच नहीं रहा। साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि न तो मध्यकालीन भारतीय वेद-भाष्यकारों का संकीर्ण दृष्टिकोण ही वेद के उदात्त स्वरूप को स्पष्ट कर सकता है, और न पश्चिमी विद्वानों की विकासवाद, तुलनात्मक-भाषाविज्ञान तथा देवगाथावाद पर आश्रित पूर्वाग्रह पूर्ण दृष्टि से ही उसके वास्तविक अभिप्राय का ज्ञान होता है। पं० गुरुदत्त ने सर्वप्रथम वेदानुसंधान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्णकार्य कर अपनी छाप पश्चिमी वेदज्ञों पर छोड़ी। पंडित लेखराम ने ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से पौराणिक, ईसाई तथा इस्लाम धर्म का अध्ययन किया।

आर्यसमाज ने अपने शतवर्षीय सुदीर्घ जीवन-काल में वैयक्तिक और संस्थागत स्तर पर अध्ययन एवं अनुसंधान के कार्य को प्रगति प्रदान की है। डी०ए०वी० कालेज लाहौर में शोध-विभाग की स्थापना के द्वारा वैज्ञानिक अनुसंधान की नींव डाली गई। प्रारम्भ में पं० भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर तथा पं० विश्वबन्धु शास्त्री जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैदिक विद्वानों ने इस शोध विभाग का संचालन कर अनुसंधान और अन्वेषण की दिशा प्रशस्त की। कालान्तर में गुरुकुल कांगड़ी तथा गुरुकुल वृन्दावन में शोधपीठों की स्थापना के द्वारा वेद, दर्शन, साहित्य आदि वाङ्मय की विविध विधाओं पर उल्लेखनीय कार्य हुआ। प्रो० रामदेव ने 'भारतवर्ष का इतिहास' (वैदिक और आर्ष पर्व) तथा 'पुराणमतपर्यालोचन' जैसे ग्रंथ लिखकर भारतीय इतिहास तथा पुराणों के तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किये। पं० चमूपति ने 'वैदिक कोष' के प्रणयन के द्वारा एक अभाव की पूर्ति की। आचार्य विश्वेश्वर ने दर्शन और साहित्य के कालजयी ग्रन्थों की टीका, व्याख्या एवं सम्पादन द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के भण्डार को समृद्ध किया। विश्वेश्वरानन्द वैदिक-शोध-संस्थान के वैदिक और संस्कृत वाङ्मय विषयक उल्लेख योग्य अनुसंधानकार्य किया, उस पर निश्चय ही आर्यसमाज की विचारधारा की स्पष्ट छाप है। श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, हरयाणा शोध-संस्थान तथा आर्ष-साहित्य प्रचार ट्रस्ट आदि अन्य संस्थान भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

व्यक्तिगत स्तर पर स्व० पदवाक्यप्रमाणज्ञ, महाविद्वान् पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने वेदार्थ प्रक्रिया, अष्टाध्यायी-व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन आदि के

क्षेत्रों में जो कार्य किया है उसकी विशिष्टता निर्विवाद है। स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने भी वेद, वेदांग, दर्शन आदि पर प्रभूत मात्रा में उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखकर अपनी मौलिक शोध प्रतिभा का परिचय दिया है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने व्याकरण, निरुक्त, छन्द आदि वेदांगों के इतिहास का अन्वेषण, यजुर्वेद के पद-पाठ का सम्पादन तथा ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के पाठालोचन, सम्पादन आदि के अछूते क्षेत्रों में प्रवेश कर यह सिद्ध कर दिया है कि उच्च कोटि की शोध प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् साधन एवं संबल रहित होने पर भी बहुत कुछ कर सकता है।

अब तो विश्वविद्यालयों में स्वीकृत परिपाटी का अनुसरण करते हुए भी आर्यसमाज द्वारा अनुमोदित वैदिक विचारधारा, ऋषि दयानन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व तथा आर्यसमाज के विभिन्न योगदान-परक कार्यों पर शोध और अन्वेषण का कार्य हो रहा है। डा० सुधीरकुमार गुप्त ने 'वेद भाष्य प्रणाली को दयानन्द सरस्वती की देन' लिख कर इस क्षेत्र में मार्गदर्शन का कार्य किया। कालान्तर में दयानन्द दर्शन[1], दयानंद एवं सायण की वेद भाष्य प्रणाली की तुलना[2], आर्यसमाज की हिन्दी[3], संस्कृत[4], पत्रकारिता[5], राष्ट्रीयता[6] आदि को देन आदि विभिन्न विषयों पर शोध कार्य सम्पन्न हो चुके हैं। अनुसंधान के द्वारा समाज के सुशिक्षित प्रबुद्ध एवं विचारशील लोगों पर आर्यसमाज का निर्विवाद प्रभाव पड़ता है।

यहां तक हमने शोध एवं अनुसंधान की वर्तमान स्थिति की समीक्षा की। परन्तु अभी भविष्य की दिशा को निर्दिष्ट किया जाना आवश्यक है। हमारे विचार से आर्यसमाज के विद्वान् अनुसंधान की निम्न दिशाओं में उल्लेखनीय कार्य कर अपनी संस्था की वैचारिक स्थिति को अधिकाधिक स्पष्ट करते हुये उसकी गुरुता की स्थापना करें।

१- डा० वेदप्रकाश गुप्त का मेरठ विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध प्रबन्ध।

२- डा० विमला का पटना विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध प्रबन्ध।

३- डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त का लखनऊ विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोधग्रंथ।

४- डा० भवानीलाल 'भारतीय' का राजस्थान विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध ग्रंथ।

५- डा० मदनमोहन जावलिया का राजस्थान विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध-ग्रंथ।

६- डा० धनपति पाण्डेय का भागलपुर विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध ग्रंथ।

वैदिक अनुसंधान-आर्यसमाज ने वैदिक विचारधारा के प्रचार एवं प्रसार को अपना प्रमुख इतिकर्तव्य माना है। फलतः वैदिक अनुसंधान विषयक उसका दायित्व स्पष्ट है। वेद के सम्बन्ध में जो उसकी आस्थायें और धारणायें हैं, उन्हें पुष्ट किया जाना आवश्यक है। विशेषतः वेद में निहित वैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन वैज्ञानिक शोध प्रणाली से ही अपेक्षित है। खेद है कि वेद और विज्ञान के समन्वय का जितना ढिंढोरा पीटा गया उतना ठोस कार्य इस दिशा में नहीं हुआ। वेद का वैज्ञानिक अध्ययन अध्येता से विभिन्न अपेक्षायें रखता है। इस कार्य को सम्पन्न करने वाले शोधार्थी का जहाँ एक ओर वैदिक भाषा, साहित्य और परम्पराओं का पारगामी विद्वान् होना आवश्यक है, वहां यह भी आवश्यक है कि वह विज्ञान के विभिन्न रहस्यों का भी पूर्ण ज्ञाता हो। कल्पना और ऊहा की अपेक्षा तथ्यान्वेषण को प्रमुखता देने तथा समग्र पूर्वाग्रहों को दूर रखकर सन्तुलित विवेचन के द्वारा ही यह कार्य सिद्ध हो सकता है।

२. वेद की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मान्यताओं का स्पष्टीकरण—अब तक वैदिक अध्यात्म, वैदिक दर्शन तथा वैदिक धर्म के ऊहापोह में विद्वानों ने पर्याप्त श्रम किया है, परन्तु आज के आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक सदर्भों को देखते हुये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वैदिक विचारधारा के इन अनुद्घाटित पहलुओं पर भी प्रकाश डाला जाय। मानव के पारलौकिक अभ्युत्थान के लिए वैदिक चिंतन की जितनी उपयोगिता है वह निर्विवाद है, परन्तु आर्थिक विषमताओं से पीड़ित, त्रस्त तथा शोषित मानव के त्राण हेतु वेद ने जिस आदर्श सामाजिक तथा राजनैतिक-व्यवस्था का विधान किया है उसे स्पष्ट किया जाना भी उतना ही आवश्यक है। वेद केवल पराविद्या के ही ग्रन्थ नहीं हैं। उनमें समाज के आदर्श संचालन, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति तथा लौकिक जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए भी बहुत कुछ विचार सामग्री निहित है। अतः आर्यसमाज के भावी अनुसंधानकर्ताओं को अब तक के इन अछूते विषयों पर अपने स्पष्ट विचार व्यक्त करने होंगे।

३ अनुसंधान की एक अन्य दिशा है ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की विभिन्न मान्यताओं पर की जाने वाली आपत्तियों तथा वैदिक धर्म की उपपत्तियों पर उठाये गये आक्षेपों का साधिकार एवं सप्रमाण निराकरण। वेद की मान्यताओं तथा आर्यसमाज के मन्तव्यों पर विभिन्न क्षेत्रों से जो अनेकविध आक्रमण, आक्षेप और खण्डनात्मक चेष्टायें हो रही हैं उनका युक्तिपूर्ण समाधान तभी सम्भव है जब आर्यसमाज के अनुसंधान विद्वान्

सर्वथा वैज्ञानिक परिपाटी से वैदिक शोध को गति प्रदान करें तथा आर्यसमाज एवं उसके प्रवर्तक के सिद्धान्तों का औचित्य निरूपण करें। इस सम्बन्ध में भावी कार्य की दो दिशायें हो सकती हैं (१) वैदिक विचारधारा पर किये जाने वाले आक्षेपों का निराकरण (२) ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की मान्यताओं पर किये जाने वाले विभिन्न साम्प्रदायिक नेताओं के आरोपों का समाधान।

अब तक हमने शोध एवं अन्वेषण के क्षेत्र की भावी दिशा का संकेत दिया। परन्तु इसकी क्रियान्विति के लिये समुचित साधन जुटाने होंगे। साधनों के अभाव में अनुसंधान का महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा होना सम्भव नहीं है इस सम्बन्ध मे निम्न संकेत किये जा सकते हैं—

१. केन्द्रीय अनुसंधान-संस्थान की स्थापना —आर्यसमाज की शिरोमणि संस्था 'सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा' के तत्वावधान में केन्द्रीय वैदिक-अनुसंधान-संस्थान की स्थापना की जानी चाहिए। इसके अन्तर्गत जो शोध विद्वान् कार्य करें, वे अपने-अपने विषयों के मर्मज्ञ तथा विशेषज्ञ हों। अनुसंधान-कार्य के सुचारू संचालन के लिए एक केन्द्रीय शोध पुस्तकालय की महती आवश्यकता होगी। इस बृहद् पुस्तकभण्डार में एक ओर वैदिक वाङ्मय, प्राचीन आर्षविद्याओं तथा संस्कृत साहित्य से सम्बन्धित दुर्लभ ग्रन्थों का संग्रह होगा, वहाँ आर्यसमाज तथा उसके प्रवर्तक से सम्बन्ध रखने वाली विपुल ऐतिहासिक शोध-सामग्री का भी संकलन एवं संरक्षण आवश्यक है। इसी प्रकार एक उच्च कोटि की शोध-पत्रिका का प्रकाशन भी आवश्यक है। यह मासिक अथवा त्रैमासिक हो सकती है, किन्तु इसमें प्रकाशित होने वाली सामग्री सर्वथा उच्चस्तरीय तथा वैशिष्ट्य पूर्ण हो। आर्यसमाज की यह शोध-पत्रिका अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति तभी अर्जित कर सकती है जब इसमें प्रकाशित होने वाले लेखों का स्तर, वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से उच्च-कोटि का हो।

२. शोध ग्रन्थों के मुद्रण एवं प्रकाशन की सुचारू व्यवस्था होनी चाहिए। आज भारत विदेशीय विश्वविद्यालयों में महर्षि दयानन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व, उनके दर्शन एवं विभिन्न क्षेत्रों में उनके योगदान पर शोध कार्य हो रहे हैं। विभिन्न अनुसंधित्सु विद्वान् आर्य समाज का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करते हुए समकालीन सुधारवादी आन्दोलनों से उसका तुलनात्मक समीक्षण भी कर रहे है। अब यह आर्यमासज का ही दायित्व

रह जाता है कि वह इस शोध कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न कराने के लिए साधन एवं सुविधायें प्रस्तुत करें। शोधार्थियों को छात्रवृत्ति देकर भी प्रोत्साहित किया जा सकता है।

उपर्युक्त योजनाओं को क्रियान्वित करने से ही देश-विदेश के प्रबुद्ध वर्ग के लोगों में आर्यसमाज का स्वरूप उजागर होगा तथा मनीषीगण उसके कृतित्व का सही मूल्यांकन कर सकेंगे।

—o—

अध्याय-१४

साधन और उपाय

शिक्षण संस्थायें

एक विगत अध्याय में हम आर्य समाज की शिक्षा के क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियों का सर्वेक्षण कर चुके है। निश्चय ही शासन के पश्चात् आर्य समाज ही एक ऐसी संस्था है जो शिक्षा के प्रचार और प्रसार में पूर्ण शक्ति और साधन लेकर जुटी हुई है। यह ठीक हैं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व आर्य समाज के विद्यालयों और गुरुकुलों में जो नीति अपनाई जाती थी, उसमें अब पर्याप्त परिवर्तन हो चुका हैं। भूतकाल में हमने अपनी शिक्षण संस्थाओं का संचालन करने के लिय विदेशी सरकार के समक्ष कभी सहायता के लिए हाथ नहीं फैलाया और न कभी इस बात की ही चिन्ता की कि हमारे गुरुकुय किसी विश्वविद्याल से औपचारिक रूप से सम्बद्ध हो जायें। इसके विपरीत आर्य सामाजिक शिक्षण-संस्थाओं के संचालकों की यह धारणा थीं कि यदि हमने अंग्रेजी शासन से सहायता ली, तों जो राष्ट्रीय भावनाओं की प्रसारक तथा स्वतंत्रता की उद्दीपक शिक्षा हमारे विद्यालयों में दी जाती है, उसमें बाधा ही पड़ेगी।

आज परिस्थितियां बदल चुकी हैं। शिक्षण संस्थाओं को चलाने के लिये न केवल हम सरकार से आर्थिक सहायता ही लेते है, किन्तु हमारे स्कूलों और कालेजों, यहां तक कि गुरुकुलों में भी राजकीय विश्वविद्यालयों के पाठ्य क्रम के अनुसार ही शिक्षण कार्य हो रहा है। आज की डी० ए० वी० संस्थायें नाम मात्र के लिए ही 'दयानन्द' या 'वैदिक' का नाम अपने साथ जोड़े हुये है अन्यथा उनमें सरकारी शिक्षण संस्थाओं से कोई मौलिक और तात्विक भिन्नता नहीं है। यह जानते हुए भी कि आर्य समाज द्वारा संचालित शिक्षा संस्थायें वैदिक रीति नीति के प्रचार-प्रसार तथा दयानन्द प्रतिपादित जीवन दर्शन के प्रचार में प्राय: असमर्थ सिद्ध हो रही हैं। हम इन संस्थाओं के संचालन और व्यवस्थापन में आकण्ठ मग्न है। इस विशाल भार को ढोने में जो श्रम और शक्ति का व्यय या अपव्यय हो रहा है, या तो हम उससे बेखबर है अथवा जानते बूझते हम उसे अपने कंधों पर लादे हुये है।

तब प्रश्न उत्पन्न होता हैं कि क्या आर्य समाज द्वारा संचालित इन शिक्षण संस्थाओं को हम अपने आन्दोलन को अधिक गतिशील और प्राणवान्

बनाने के लिए उपयोगी बना सकते हैं ? निश्चय ही ऐसा हो सकता है, यदि एक सुव्यवस्थित नीति के द्वारा आर्य समाज अपनी शिक्षा संस्थाओं का नियन्त्रण और संचालन करे। यह तो सम्भव नहीं लगता कि आर्य समाज सरकारी आर्थिक सहायता को अस्वीकार करदे तथा विश्वविद्यालयों और बोर्डों द्वारा प्रचलित पाठ्यक्रम को अपनी संस्थाओं में लागू न करे। तथापि यह संभव है कि निम्न उपायों को लागू कर हम अपनी शिक्षण संस्थाओं के द्वारा आर्य समाज के सन्देश को प्रचारित कर सकते है।

दयानन्द विश्वविद्यालय की स्थापना आज विशिष्ट महापुरुषों की स्मृति में विभिन्न विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके हैं तथा पृथक् पृथक् धर्मों और मतों के दर्शन, विश्वास तथा मान्यताओं के अध्ययन के लिए भी अध्ययन संस्थान खुले हैं। गुरु नानक की ५०० वीं जन्म शताब्दी पर अमृतसर में सिक्ख मत के प्रवर्तक के नाम पर विश्वविद्याल स्थापित हुआ, परन्तु पंजाबी, भाषा और सिक्ख इतिहास के विशद अनुशीलन के लिये पंजाबी विश्वविद्यालय की स्थापना पटियाला में बहुत पूर्व ही हो चुकी थी। इसी प्रकार बौद्ध अध्ययन, जैन धर्म के अनुशीलन तथा इस्लामी शोध एवं अनुसंधान के लिये भी सारनाथ, वैशाली तथा अलीगढ़ में पृथक् पृथक् केन्द्र बन चुके हैं। इस वर्ष तीर्थंकर महावीर के २५० वें निर्वाण वर्ष में तो विभिन्न विश्वविद्यालयों ने महावीर की शिक्षा तथा अहिंसा विषयक अध्ययन एवं अनुसंधान के लिये अनेक अध्ययन पीठें स्थापित करने का निश्चय किया है। क्या आर्य समाज पंजाब, दिल्ली अथवा अजमेर में भारतीय नवजागरण के सूत्रधार महर्षि दयानन्द के वैदिक सिद्धान्तों तथा मन्तव्यों के प्रचारार्थ एक विश्वविद्यालय की स्थापना के लिये केन्द्रीय सरकार को बाधित नहीं कर सकती ? एक दो विश्वविद्यालयों में दयानन्द अध्ययन-पीठ स्थापित करने का निर्णय किया गया है। देखना होगा कि यहां स्वामी दयानन्द के विचारों के प्रकाश में वैदिक और भारतीय भाषा, साहित्य, धर्म और संस्कृति के अनुसंधान की क्या संभावनायें हैं ? यदि सुयोग्य प्रोफेसरों की देखरेख में यह कार्य हो, तो इसका समुचित लाभ मिल सकता है।

भारतीय नवजागरण में आर्य समाज की जो उल्लेखनीय भूमिका रही हैं, उसका सर्वांगीण विवेचन भी इन शोध-पीठों के माध्यम से होगा। आर्य समाज के धनी-मानी पुरुषों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे ऐसे विशिष्ट अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहन देने के लिये विभिन्न छात्र वृत्तियों और पुरस्कारों की घोषणा करें। ऐसे शोध ग्रन्थों का प्रकाशन भी विश्वविद्यालय अथवा शोधपीठ के तत्वावधान में ही होना चाहिये।

छात्र कल्याण केन्द्र तथा परामर्श समितियां– शिक्षा के क्षेत्र में अवि-लम्ब किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की तो अपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि हम देखते हैं कि इस देश में राष्ट्रपति से लेकर एक साधारण अध्यापक तक शिक्षा की वर्तमान रीति नीति के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए भी उसमें उपयुक्त परिवर्तन करने में अपने आपको असमर्थ अनुभव करता है। निश्चय ही आर्य समाज एक अन्य कार्यक्रम के द्वारा छात्रों में अपने विचारों का प्रचार कर सकता है। विद्यालयों से सम्बद्ध छात्रावासों और गुरुकुलों में रहकर अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों में आर्यसमाज की विचारधारा सहज ही फैलाई जा सकती है। ये आर्य छात्रावास ऐसे योग्य अधिष्ठाताओं के संचालन में कार्य करें, जो अपने आर्योचित भद्र व्यवहार की छाप छात्रसमुदाय पर डाल सकें। छात्रावासों में नियमित रूप से संध्या, हवन, साप्ताहिक-सत्संग, वाद-विवाद-प्रतियोगितायें आदि आयोजित की जायें तथा इनमें भाग लेने वाले छात्रों को पुरस्कृत कर उनका उत्साह-वर्धन किया जाय। वाई एम. सी. ए. (Young Men's Christion Assceiation) की ही भांति आर्य युवक केन्द्र स्थापित किये जायें। धीरे-धीरे इन युवा केन्द्रों का जाल प्रथम सारे देश में पुनः संसार के अन्य देशों में भी बिछाया जाय। इन आर्य युवक केन्द्रों में आग-न्तुक नवयुवकों, पर्यटकों तथा शोधार्थियों के लिए निवास की सुचारू व्यवस्था हो, पुस्तकालय तथा वाचनालय रहें जहां से वे वैदिक विचारधारा की जानकारी प्राप्त कर सकें।

आर्यसमाज द्वारा संचालित विद्यालयों और कालेजों को भी अधिक प्रभावशाली ढंग से संचालित किया जा सकता है। अध्यापकों की नियुक्ति करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाय कि आर्यसमाज की विचार-धारा में दीक्षित व्यक्तियों को वरीयता मिले। विद्यालयों का वातावरण धार्मिकता, शालीनता तथा सुव्यवस्था से परिपूर्ण हो। धार्मिक शिक्षा की सुचारू व्यवस्था आवश्यक है। आज हम देखते हैं कि प्राय: डी.ए.वी. विद्यालयों मे धर्म-शिक्षा नितान्त उपेक्षापूर्ण स्थिति में रहती है। छात्र उसे समय नष्ट करने का पाठ्यक्रम मानते हैं, जबकि सुयोग्य अध्यापक के अभाव में वह ऐसे व्यक्ति के सुपुर्द कर दी जाती है जो आर्य-सिद्धान्तों से नितान्त अनभिज्ञ होता है। परिणाम स्पष्टहै। धर्म-शिक्षा केवल समय विभाग चक्र में तो दिखाई देती है, अन्यथा व्यवहारिक दृष्टि से उसका कहीं अस्तित्व नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा को धार्मिक जागृति और उत्तम संस्कारों का

प्रसारक सहज में ही बताया जा सकता है। इस देश में सर्वत्र फैले ईसाइयों के कान्वेन्ट और अन्य विद्यालय, मुसलमानों के मकतब और मदरसे जिस प्रकार ईसाइयत और इस्लाम की विचारधारा के प्रसार के कारण बने हुये हैं, उसी प्रकार आर्यसमाज की शिक्षण-संस्थाओं के द्वारा भी वैदिक संस्कृति और आर्य धर्म के प्रचार में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

——०——

अध्याय १५
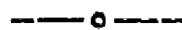
धर्म प्रचार के नये क्षितिज

अब तक आर्य समाज के कार्य की विशेष भूमिका उत्तर भारत में ही रही है। आर्य समाज की स्थापना का लक्ष्य तो संसार का उपकार करना माना गया था परन्तु सत्य यह है कि वह इस देश में ही मुख्यतया हिन्दीभाषी प्रान्तों में, व्यापकता एवं लोकप्रियता अर्जित कर सका। आर्यसमाज को वेद प्रतिपादित जिस धर्म एवं विचारधारा का प्रचार अभीष्ट है वह भी सार्वभौम, सार्वकालिक तथा सार्वजनीन है। इसे ही दृष्टि-बिन्दु में रखकर आर्यसमाज के नेताओं ने उसे भारत के सभी भागों तथा संसार के अन्य देशों में भी प्रसारित करने का प्रयत्न किया। महर्षि दयानन्द के दिवंगत होने पर उनके अनुयायियों ने अपने आचार्य की भावनाओं कों दृष्टि में रखते हुये देश-देशान्तरों तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में उनके संदेश को प्रचारित करने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु यह एक निर्विवाद सत्य है कि दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत में ही आर्य समाज के विचारों को उर्वरा भूमि प्राप्त हुई। स्वयं स्वामी जी भी अपने व्यस्त पर्यटन काल में दक्षिण की विद्या-नगरी पूना तक ही अपनी उपदेश-गंगा प्रवाहित कर सके थे और विदेशों में जाकर आर्य-संस्कृति की विजय-वैजयन्ती को लहराने का तो उन्हें अवसर ही नहीं मिला। यही कारण है कि न तो दक्षिण भारत में ही आर्यसमाज अपनी सुदृढ़ नींव जमा सका, और उसका अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार कार्य तो अभी शैशवावस्था का ही परित्याग नहीं कर सका है।

आज भी हम देखते हैं कि महाराष्ट्र, आंध्र तथा कर्नाटक प्रान्तों के कुछ भागों में आर्यसमाज के नाम तथा कार्यों से कुछ लोग भले ही परिचित हों, किन्तु केरल, तमिलनाडु जैसे प्रान्तों में आर्य समाज का नाम प्रायः अपरिचित ही है। इसी प्रकार बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा आदि पूर्वीय प्रदेशों में भी आर्य समाज मुख्यतः उत्तर भारतीय लोगों के माध्यम से ही पादारोपण कर सका है। इन प्रान्तों के मूल निवासी बंगला, असमी तथा उड़िया भाषी जनता के लिए आर्य समाज अपरिचित सा ही है।

सर्व प्रथम स्वामी नित्यानन्द ब्रह्मचारी तथा अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी का ध्यान दक्षिण-भारत में आर्यसमाज के प्रचार की ओर गया

था। स्वामी श्रद्धानन्द ने तो पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति तथा पं० केशवदेव ज्ञानी आदि विद्वानों के माध्यम से दक्षिण-प्रान्तस्थ जनता को वैदिकधर्म का स्फूर्तिप्रद संदेश प्रेषित किया। इन प्रचारकों ने मैसूर, बेंगलोर, मद्रास आदि नगरों को अपना केन्द्र बनाकर महत्वपूर्ण प्रचार कार्य किया। उन्होंने स्थानीय भाषाओं के माध्यम से साहित्य लेखन किया तथा व्याख्यान दिये। तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम भाषाओं में सत्यार्थप्रकाश के अनुवाद प्रकाशित किये गये तथा प्रचारात्मक लघु-पुस्तकें भी तैयार हुई। मालाबार प्रान्त में जब मोपला मुसलमानों ने धर्मान्धता का नग्न प्रदर्शन करते हुये हिन्दू-समाज पर व्यापक अत्याचार किये तो महात्मा हंसराज के आदेश पर लाला खुशहालचन्द (वर्तमान महात्मा आनन्द स्वामी) के नेतृत्व में आर्य प्रादेशिक सभा के कार्यकर्ता दक्षिण पहुँचे तथा त्रिवेन्द्रम को अपना केन्द्र बनाकर सेवा कार्य करते रहे। केरलीय जनता को आर्य समाज का परिचय उसी समय मिला था।

परन्तु आज आर्यसमाज के पास दक्षिण भारत के लोगों के लिए संदेश तो है, किन्तु उसे पहुंचाने का माध्यम नहीं है। यदि आर्यसमाज तमिलनाडु तथा धुर दक्षिण की भारतीय प्रजा से अपना सम्पर्क सूत्र रखता तो भाषा, क्षेत्रीयता तथा आर्य-द्रविड़-भेद के नाम पर जो विघटनकारी दूषित प्रवृतियां दक्षिण भारत के कुछ भागों में पनप रही हैं वे जड़ नहीं जमा पातीं। कितने खेद की बात है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने वाला आर्यसमाज दक्षिण में हिन्दी-प्रचार का कोई उपयोगी और व्यावहारिक कार्यक्रम संचालित नहीं कर सका। फलतः महात्मा गांधी को ही 'दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा' के माध्यम से यह कार्य करना पड़ा। आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द तो हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तथा सौराष्ट्र से लेकर ब्रह्म-देश पर्यन्त जिस विशाल आर्यावर्त में वैदिक धर्म का निर्बाध प्रसार देखना चाहते थे, उसे क्रियान्वित करने के लिये दक्षिण और पूर्व के उन प्रान्तों में आर्यसमाज को अपनी गतिविधियां तीव्रता से संचालित करनी चाहिए, जहां अभी वे नगण्य ही हैं। इन प्रान्तों में प्रतिनिधि सभाओं का संगठन किया जाय तथा साहित्य प्रचार, सेवा कार्य एवं जन-जागरण के अन्य साधनों के द्वारा आर्यसमाज का संदेश घर-घर में प्रसारित करने की व्यवस्था हो।

यह एक सुविदित तथ्य है कि भारत के सीमान्त प्रान्तों तथा केरल के अधिकांश भागों में विदेशी ईसाई-धर्म प्रचारक अपने केन्द्रों की स्थापना द्वारा भोली-भाली अशिक्षित एवं निर्धन हिन्दू प्रजा को अपने धर्म में दीक्षित करते है, साथ ही उनमें राष्ट्र विरोधी गतिविधियों को प्रोत्साहित कर देश की एकता तथा सुरक्षा को भी आघात पहुँचाते है। अतः आर्य समाज के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह दक्षिण भारत के ईसाई बहुल प्रदेशों तथा पूर्वी सीमान्त अंचलों में औषधालय, में सेवा केन्द्र, विद्यालय आदि की स्थापना कर विदेशी धर्म प्रचारकों की अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का मुकाबला करे तथा वैदिक संस्कृति का उज्ज्वल स्वरुप स्थानीय लोगों के समक्ष रखकर देश की सामान्य जीवन-धारा में उन्हें लीन होने की प्रेरणा दें।

यदि दक्षिण भारत तथा पूर्वी राज्यों में आर्य समाज अपने कार्य को व्यापक रुप देना चाहे तो उसे निम्न साधनों को स्वीकार करना होगा।

(१) विभिन्न दक्षिण भारतीय भाषाओं में ऋषि दयानन्द के साहित्य का अनुवाद तथा अन्य ग्रन्थों का प्रकाशन। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए प्रान्तीय प्रतिनिधि समाजों में तत् तत् भाषाओं के पृथक् साहित्य-विभाग स्थापित करने होंगें।

(२) पृथकता की बढ़ती हुई प्रवृत्तियों को रोकने के लिये आर्य समाज को दक्षिण भारत में एक वैचारिक क्रान्ति का नेतृत्व करना होगा। इसके माध्यम से वहाँ के लोगों को यह बताना होगा कि उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत की संस्कृति, परम्परा तथा भाषा एवं साहित्य।

वस्तुतः एक विशाल भारतीय संस्कृति के ही अंग है, उनमें पार्थक्य तथा वैषम्य देखना उचित नहीं। आज 'द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम' तथा स्व० राम स्वामी नैकर द्वारा स्थापित,'द्रविड़ कषगम' के द्वारा उत्तरभारत की भाषा और संस्कृति के विरोध में जो प्रबल वातावरण दक्षिण में, विशेषतः तमिलनाडु में बनाया जा रहा है, उसका समुचित उत्तर देवे में आर्य समाज ही समर्थ हैं। आर्य और द्रविड़ संस्कृति की पृथकता का ढोल पीटा जा रहा है और रामायण की कथा, हिन्दू देवमाला, सस्कृत, हिन्दी आदि आर्य भाषाओं के विरोध में जो ध्वंसात्मक आन्दोलन किये जाते है, उनका प्रतिवाद करने हेतु आर्य समाज को आगे आना होगा।

आर्य समाज और अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार

महर्षि दयानन्द ने जहां आर्य समाज के सिद्धान्तों और मन्तव्यों को एक सार्वभौमि स्वरूप प्रदान किया था, वहां वे अपनी स्थानापन्न परोपकारिणी सभा को भी यह आदेश दे गये थे कि देश देशान्तरों तथा द्वीप-द्वीपान्तरों में वैदिक धर्म का प्रचार किया जाय। आर्य समाज द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म, देश, काल, वर्ण तथा रंग की सीमाओं से ऊपर उठकर मनुष्य को वास्तविक मानव बनाने की बात कहता है। अतः उसे मानव धर्म का ही पर्याय मानना चाहिए। इसी कारण आर्य समाज के नेताओं का ध्यान उन देशों की ओर भी गया, जहां भारत मूल के लोगों का निवास था, अथवा विगत शताब्दी में ही प्रवासी भारतीयों ने उन देशों में जाकर उपनिवेशों की स्थापना कर ली थी। दक्षिण और पूर्वी अफ्रीका, मारिशस, फीजी, गाइना आदि ऐसे देश हैं जहां भारतीयों की संख्या पर्याप्त है। इन देशों में जहां भारतीय रीति नीति, धर्म और परम्परा, संस्कृति और भाषा किसी न किसी रूप में शेष थी, आर्य समाज का प्रचार सुगम रीति हो सकता था। फलतः इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही आर्य समाजी धर्म प्रचारकों ने अपनी विदेश प्रचार यात्रायें की। स्वामी शंकरानन्द, भाई परमानन्द, स्वामी स्वतंत्रानन्द, स्वामी भवानी दयाल संन्यासी, मेहता जैमिनी तथा डा० चिरंजीव भारद्वाज आदि ख्यातनामा वक्ता, प्रचारक तथा धर्मोपदेशक समय समय पर इन देशों की यात्रा कर वहां के लोगों में उत्पन्न धर्म जिज्ञासा को शान्त करते रहे, तथा उनकी आध्यात्मिक पिपासा को सन्तुष्ट करने के लिये धर्म और संस्कृति की निर्मल स्रोतस्विनी को प्रवाहित करने का यत्न किया।

विदेशों में आर्य सामज के प्रचार का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। हमारे प्रचारक उन्हीं देशों में जाते हैं, जहां भारतीय मूल के लोग रहते हैं, तथा जिनके बीच हिन्दी भाषा के माध्यम से प्रचार कार्य किया जा सकता है। आज तो भारतीय धर्म तथा संस्कृति, योग, वेदान्त तथा भक्ति के नाम पर अनेक छद्म वेशी लोग यूरोप, अमेरिका आदि पश्चिमी देशों में अपना पाखण्ड-जाल फैला रहे है जहां के लोग भौतिक चाकचिक्य से आक्रान्त होकर किसी आध्यात्मिक परिवेश में मानसिक शान्ति का अनुभव करते हैं। यह सत्य है कि धर्म अध्यात्म और योग के नाम पर आडम्बर और पाखण्ड को प्रोत्साहित करने वाले ये योगी और धर्म गुरु भारतीय विचारधारा के अमल, धवल, अकलुष रूप को विदेशी जनता के समक्ष प्रस्तुत करने में असमर्थ है। अतः यहां भी आर्य समाज का स्पष्ट उत्तरदायित्व दृष्टिगोचर होता है।

आर्य समाज को अपने विदेश प्रचार का कार्यक्रम और आयोजन एक सुव्यवस्थित एवं वस्तुवादी दृष्टिकोण पर आधारित करना चाहिए। इसके लिए उसे विदेशों में प्रचारार्थ जाने वाले उपदेशकों का एक ऐसा प्रशिक्षित दल तैयार करना होगा जो सच्ची लगन वाले हों तथा जिनमें उच्च कोटि का तप, त्याग, कष्टसंहिष्णुता, अदम्य साहस एवं उत्साह हो। 'कृण्वन्तो-विश्वमार्यम्' तथा कृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' की वैदिक सूक्तियों को सार्थक करने वाले धर्म प्रचारक जब विदेशों में जाकर आर्य-धर्म की गरिमा का आख्यान करेंगे तो स्वामी विवेकानन्द की इस उक्ति की सार्थकता सहज ही हृदयंगम हो जायगी, जिसमें उन्होंने कहा था—"मैं उस (वैदिक) धर्म का प्रचार करने के लिए जा रहा हूँ, जिसका कि बौद्ध धर्म एक विद्रोही बालक है तथा ईसाई धर्म जिसकी दूरागत प्रतिध्वनि मात्र है।"

विदेश प्रचार को सबल एवं सशक्त बनाने के लिए विभिन्न योजनाओं का क्रियान्वयन अपेक्षित है। जैसा कि हम देख चुके हैं आज आर्यसमाज के प्रचारक उन्हीं देशों की यात्रा करते हैं, जहां भारतीय मूल के लोग निवास करते हैं। परन्तु आवश्यकता तो इस बात की भी है कि गोरी, पीली तथा काली जातियों में भी वैदिक धर्म का प्रचार किया जाय। इसके लिये हमें विदेशी भाषाओं में व्याख्यान देने की कला में सिद्धहस्त विद्वान् तैयार करने होंगे। विशेषतः अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, अरबी, चीनी आदि भाषाओं में साहित्य लेखन तथा मौखिक प्रचार के कार्य को गति देने हेतु व्यवस्था अपेक्षित है। सार्वदेशिक सभा के तत्त्वावधान में विदेश-प्रचार-अनुभाग की स्थपना होनी चाहिए, जो विदेश में प्रचारार्थ जाने के इच्छुक प्रचारकों को प्रशिक्षण प्रदान करे। जिस देश में ये प्रचारक जावें, उस देश की भाषा, इतिहास, परम्परा तथा लोक-जीवन का अध्ययन तत्परतापूर्वक करें।

आज इस्लाम और ईसाइयत राजनीतिक संरक्षण प्राप्त कर अपना विश्व-व्यापी स्वरूप प्राप्त कर चुके हैं। ईसाइयत के प्रचार लिये तो वैटिकन के धर्माचार्य पोप ने विश्व के सभी देशों में अपनी सुदृढ़ प्रचार-व्यवस्था का जाल फैला रखा है। इस्लाम भी पाकिस्तान, अरब-राष्ट्रों तथा अन्य मुसलमान देशों की सहायता से 'पान इस्लाम' की भावना को प्रचारित करने का इच्छुक है। ऐसी स्थिति में आर्य-धर्म और संस्कृति का प्रचार करने के लिये आर्य समाज को ही कटिबद्ध होना होगा। नेपाल, श्री लंका, बर्मा आदि निकटवर्ती देशों में आर्य समाज के प्रचार की सम्भावनाओं का पता लगाना

आवश्यक है। ये वे देश हैं जो विराट् भारतीय संस्कृति से प्रभावित रहे हैं तथा जिनके अधिकांश नागरिकों ने उस बौद्ध धर्म को अपना लिया है, जो प्रकारान्तर से आर्य-धर्म का ही परिवर्तित रूप है। इस प्रकार अन्त-र्राष्ट्रीय प्रचार के क्षेत्र में आर्य समाज के पूर्ण शक्ति और साहस के साथ अवतरित होने पर ही उसके सार्वभौम स्वरूप की सार्थकता है।

—o—

अध्याय १६

आर्यसमाज में युवा शक्ति का प्रवेश

अब तक हमने आर्यसमाज से संबंधित कुछ उन समस्याओं का उल्लेख किया है जो उसके आन्तरिक संगठन, प्रचार प्रणाली, साहित्य तथा अन्य प्रासंगिक विषयों से संबंधित हैं। किसी संस्था के भावी आन्दोलन और कार्य-क्रम के निर्धारण में इन सभी समस्याओं पर प्रसंगोपात विचार अपेक्षित है। परन्तु सर्वोपरि समस्या तो किसी संस्था के अनुयायियों में जागरूक, उत्साह से भरपूर, अदम्य युवा शक्ति के अभाव के कारण उत्पन्न होती है। आर्यसमाज के विगत-कालीन नेताओं ने इस तथ्य को भलीभांति अनुभव किया था कि वैदिक विचारधारा के प्रचार एवं प्रसार में युवा-वर्ग को किस प्रकार नियोजित किया जा सकता है? लाहौर आर्यसमाज के प्रथम प्रधान लाला साईंदास सदैव इस बात का यत्न करते थे कि होनहार युवक समाज में प्रविष्ट हों। जिस समय, हंसराज, लाजपतराय और मुन्शीराम (स्वामीश्रद्धानन्द) जैसे भावी आर्य नेताओं ने युवावस्था में आर्यसमाज में प्रवेश किया, उस समय वयोवृद्ध लाला साईंदास भाव विभोर हो उठे थे और उन्हें आर्यसमाज के उज्ज्वल भविष्य की आशा बंध गई थी।

आर्य युवकों को आर्य समाज में प्रविष्ट होने से पूर्व वैदिक धर्म तथा आर्य संस्कृति की दीक्षा देने हेतु 'आर्यकुमार परिषद्' की स्थापना स्व० डा० केशवदेव शास्त्री ने की। समय-समय पर अनेक सुयोग्य आर्य नेताओं का मार्ग दर्शन युवक वर्ग को मिलता रहा। दिल्ली के नेता स्व० लाला देशबन्धु गुप्त, डा० युद्धवीरसिंह, यहां तक कि स्व० बैरिस्टर आसफअली भी 'दिल्ली-प्रदेश आर्यकुमार सभा' के निकट सम्पर्क में आये थे। आर्यकुमार परिषद् की ही भांति 'आर्य-वीर-दल' का संगठन भी युवकवर्ग को शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक दृष्टि से सुसंगठित करने तथा शक्ति सम्पन्न करने हेतु किया गया। आर्यकुमार-आन्दोलन का सिद्धांत वाक्य था 'विद्या धर्मेण शोभते' - विद्या की शोभा धर्म से होती है। इसी प्रकार 'आर्य-वीर-दल' ने 'अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु' (हमारे वीर उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हों) का जयघोष किया। अज्ञान, अन्याय और अभाव को समाप्त कर समाज में व्याप्त अनाचार, विषमता तथा पाखण्ड का ध्वंस सी आर्य-वीर-दल का लक्ष्य है। अपने ध्येय की पूर्ति के लिए वर्णाश्रम धर्म का वास्तविक स्वरूप जनता के समक्ष उपस्थित करना तथा उस आदर्श

समाज व्यवस्था की स्थापना हेतु प्रयत्न करना आर्य-वीर-दल का प्रमुख कार्यक्रम है।

यह सब कुछ होने पर स्वीकार करना पड़ेगा कि युवाशक्ति को आकृष्ट करने के लिए बहुत कुछ करणीय है। आज युवक आर्यसमाज की ओर आकर्षित नहीं होते, इसके अनेक मनोवैज्ञानिक तथा अन्य कारण हैं। युवक जिन कार्यक्रमों में रुचिपूर्वक अपना योग दे सकते हैं, ऐसे कार्यक्रम अभी तक नहीं बनाये जा सके हैं। अतः हमें पुनर्विचार करना होगा कि युवक शक्ति को प्रविष्ट कराने के लिए क्या क्या उपाय किए जायें? यदि आर्यसमाज की वृद्ध पीढ़ी ने नवयुवकों के लिए स्थान रिक्त नहीं किया, तो नए रक्त के अभाव में यह सशक्त एवं जीवन्त संस्था भी मरणासन्न हो जाएगी। यहां हम कुछ ऐसे कार्यक्रमों की रूपरेखा उपस्थित करना आवश्यक समझते हैं जिनके क्रियान्वयन से युवक-शक्ति का आर्यसमाज में प्रवेश होना सुनिश्चित है।

युवक शक्ति को आर्यसमाज में दीक्षित करने के लिए यह आवश्यक है कि वैदिक विचारधारा को सुव्यवस्थित, तर्कपूर्ण तथा सहजग्राह्य ढंग से उनके समक्ष उपस्थित किया जाय। इसके लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता होगी जो वैदिक धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को रोचक, सरल तथा युक्तिपूर्ण ढंग से उपस्थित कर सके। जटिल तर्क-प्रक्रिया तथा शास्त्रीय वाद-विवादों से युवकों को सहज अरुचि होती है। उन में भावुकता के साथ-साथ उत्साह, साहस तथा कुछ कर गुजरने की अदम्य भावना होती है। आर्यसमाज को उनके इन नैसर्गिक गुणों का लाभ उठाना होगा। सक्रियता युवकों को विशेष प्रिय होती है। अतः विचार गोष्ठी, स्नेह सम्मेलन, आकस्मिक विपत्तियों के अवसरों पर सेवादलों का संगठन आदि ऐसे कार्यक्रम आयोजित किए जायं जिन में युवक अपने संपूर्ण उत्साह और शक्ति द्वारा सम्मिलित हो सकें।

देश की राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं के प्रति भी युवकों का सहज आकर्षण होता है। अतः राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में आर्यसमाज किस प्रकार के परिवर्तन का इच्छुक हैं, यह उन्हें बताना होगा। आज यह स्पष्ट हो चुका है कि कोई भी सामाजिक और राजनीतिक संगठन युवकों की उपेक्षा कर जीवित नहीं रह सकता। कांग्रेस की विचारधारा को युवा-वर्ग में प्रसारित करने के लिए 'युवक कांग्रेस' का संगठन किया गया है। जनसंघ की शक्ति का स्रोत 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' तथा 'अखिल भारतीय विद्यार्थी-परिषद्' के माध्यम से आने वाले नौजवान ही हैं। साम्यवादी-दल को

'विद्यार्थी फैडरेशन' से शक्ति मिलती है। इसी प्रकार मुसलमान, ईसाई, सिक्ख आदि अल्प सख्या वाले मत-सम्प्रदाय भी अपने अपने युवा-संगठनों को शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। ऐसी स्थिति में यदि आर्यसमाज के युवक संगठित होकर कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण नहीं होंगे तो इस बात की पूरी संभावना है कि वे अन्य प्रतिवादी दक्षिण पंथी अथवा अनीश्वरवादी और नैतिक मूल्य विहीन वामपंथी राजनैतिक दलों की ओर झुक जायें। आर्यसमाज ने अबतक देश और मानवता के समक्ष उपस्थित जिन आर्थिक और अन्य प्रकार की चुनौतियों की ओर जो प्राय: उपेक्षा भाव दिखाया, उसी का यह परिणाम है कि सुदृढ़ सैद्धान्तिक आधार पर प्रतिष्ठित होने तथा व्यापक प्रगतिशील विचार-धारा का समर्थक होते हुए भी आर्यसमाज आज के जनजीवन तथा युवक शक्ति को प्रभावित नहीं कर सका है।

शिक्षण संस्थाओं के युवा केन्द्रों, छात्र-परिषदों तथा अन्य युवा-समितियों के सदस्यों को आर्य समाज की विचारधारा से परिचित एवं प्रभावित करने के लिए सार्वदेशिक सभा के तत्वावधान में एक 'युवा विभाग' आरम्भ किया जाना चाहिए, जिसके माध्यम से ऐसा साहित्य प्रकाशित हो, जो युवकों पर आर्यसमाज का प्रभाव छोड़ सके। आर्य समाजों के उत्सवों तथा अन्य सम्मेलनों के अवसर पर आर्य युवक-सम्मेलन आयोजित किए जायें। सामाजिक रूढ़ियों और जात-पांत के बन्धनों को तोड़ने, दहेज, फिजूलखर्ची तथा व्यसनों एवं विलासितापूर्ण जीवन के विरुद्ध सतत संघर्ष करने की भावना युवकों में पैदा करनी होगी। उपर्युक्त कार्यक्रमों के व्यवस्थित संचालन तथा क्रियान्वयन के द्वारा ही आर्य समाज के सर्वांगीण कायाकल्प की संभावना है और तभी उसका आन्दोलनात्मक रूप संपूर्ण मानव समाज को प्रभावित कर सकेगा।

युवक वर्ग की ही भांति समाज के पिछड़े वर्ग, दलित लोग तथा आदिवासी एवं वनवासी जातियों के प्रति भी आर्यसमाज को एक सुनिश्चित नीति बनानी चाहिए। अबतक यह धारणा प्रकट की जाती रही है कि आर्य-समाज के आन्दोलन में हिन्दू समाज का एक विशिष्ट वर्ग ही प्रवेश पाता रहा है, तथा समाज के दलित, शोषित एवं पीड़ित वर्ग के लोगों का उससे कोई जीवित सम्पर्क अद्यापि स्थापित नहीं हो सका। इस कथन में पर्याप्त सत्यता है। आज जिस 'समग्र क्रान्ति' तथा सम्पूर्ण सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों की बात कही जाती है वह तभी सम्भव है जब समाज के सभी वर्गों को साथ लेकर चला जाय। अत: आर्यसमाज को भी आर्थिक दृष्टि से विभिन्न, सामाजिक विषमता और शोषण के शिकार शैक्षिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों के उत्थान की योजनायें बनानी होंगी। उसे अपने उपासना-मन्दिरों

और सभा भवनों की प्राचीरों का त्याग कर हरिजन-बस्तियों, आदिवासियों के ग्रामों तथा वनवासियों के बीच जाना होगा, जहां भारत की अशेष दरिद्रतायुक्त जनता निवास करती है। ये लोग केवल आर्थिक दृष्टि से ही दुर्दशा ग्रस्त नहीं है, शताब्दियों के जड़ संस्कार, मिथ्या रूढ़ियां और अन्ध विश्वास भी इन्हें खाये जा रहे हैं। जिस अदम्य सेवाभाव और त्याग एवं बलिदान की भावना से आर्यसमाज के अनुयायियों ने विगत शताब्दी के अन्तिम दशक तथा वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक तीन दशकों में दलित एवं शोषित वर्ग के लोगों के उत्थान का कार्य किया, वह धीरे-धीरे लुप्त हो गया। परिणाम यह निकला कि आर्यसमाज का इन निम्न एवं पिछड़े वर्ग के लोगों से जीवित सम्पर्क ही समाप्त हो गया। इसका एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि एक ओर विभिन्न राजनैतिक दलों ने अनेक प्रलोभन देकर इन्हें अपनी मृग-मरीचिका में फंसाने की चेष्टा की वहां दूसरी ओर ईसाई धर्म प्रचारकों ने भी अपनी प्रलोभनीय सेवा और सहायता की भीख के द्वारा इन्हें धर्म परिवर्तन के लिए प्रेरित किया। ऐसी स्थिति में करोड़ों की जनसंख्या वाला यह दलितवर्ग एक विचित्र दुविधा एवं दिग्भ्रम में फंसा हुआ है। आर्य समाज ही इसका त्राण करने में समर्थ है।

आर्यसमाज के भावी आन्दोलन की सफलता इस बात पर निर्भर होगी कि वह इन लोगों के लिए कितना कुछ करने मे समर्थ है? सेवा-सदनों की स्थापना, सहायता केन्द्रों के गठन आदि के द्वारा पिछड़ी जातियों के सर्वांगीण अभ्युत्थान की योजना बनानी चाहिए। समय समय पर ग्रामों में ऐसे शिविर आयोजित किए जायें, जिन में ग्रामीण जनों, गिरिजनों तथा अरण्यवासी लोगों मे सुसंस्कार डालने तथा उन्हें जड़ विश्वासों से मुक्त करने के प्रयास किए जायें। सेवा और सहायता के द्वारा ही दलित वर्ग का विश्वास अर्जित किया जा सकता है। ईसाई प्रचारक भी आर्थिक सहायता के द्वारा ही धर्म परिवर्तन को प्रोत्साहन देते हैं। परन्तु आर्यसमाज का कार्य तो रचनात्मक तथा सुरक्षात्मक ढंग का होना चाहिए। सेवाभावी कार्यकर्ताओं की एक ऐसी टोली बनाई जावे जो पिछड़े क्षेत्रों में जाकर तत्परतापूर्वक कार्य करे। 'दयानन्द साल्वेशन मिशन,' दयानन्द सेवा सदन आदि संस्थाओं के माध्यम से ही यह कार्य संपन्न हो सकता है।

अन्य मतावलम्बियों के प्रति आर्यसमाज का रुख कैसा रहे, यह भी एक विचारणीय समस्या है। यह निश्चित तथ्य है कि आर्यसमाज एक सार्वभौम संस्था है। मानव मात्र की एकता उसे अभीष्ट है। "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे"—हम मानव जाति के सभी सदस्यों को मित्रता की दृष्टि

से देखें, यह वेद का आदर्श है जिसे आर्यसमाज ने सर्वात्मना स्वीकार किया है। महर्षि दयानन्द ने मानव एकता की सिद्धि के लिए जो प्रयत्न किये, वे चिरस्मरणीय रहेंगे। मानव जाति का सार्वत्रिक हित किस प्रकार हो, यह उनके मनन एवं चिन्तन का विषय रहा। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उन्होंने जहां स्वधर्मानुयायी नेताओं से विचारों का आदान-प्रदान किया वहां मुसलमान, ईसाई तथा ब्राह्म समाज के अग्रणी पुरुषों से भी सम्पर्क स्थापित किया। यह ऐतिहासिक सत्य है कि उनकी सभाओं में विदेशी पादरी, अंग्रेज अधिकारी, मुसलान मुल्ला-मौलवी भी प्रचुर संख्या में उपस्थित होते थे। सर सैयद अहमद खां तथा बरेली के पादरी स्कॉट से उनका अत्यन्त सौहार्द भाव था। प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ प्रो० मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स तथा थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल एच. एस. ऑल्काट एवं मैडम ब्लैवेट्स्की उनके निकटस्थ मित्र थे।

यह विडम्बना ही है कि कतिपय अनिवार्य परिस्थितियों के कारण आर्यसमाज का यह मानव हितकारी स्वरूप इतिहासकारों की दृष्टि से ओझल हो गया। उनकी धारणा के अनुसार यह संस्था हिन्दू हितों की रक्षक मात्र है। फलतः ईसाइयत और इस्लाम की विरोधिनी एक प्रतिक्रियावादी, प्रतिगामिनी शक्ति के रूप में ही उभर सकी। आर्यसमाज को एक संकीर्ण, साम्प्रदायिक तथा प्रगति विरोधी संगठन के रूप में आख्यान कर जाने-अनजाने इन इतिहासविदों ने जो देश का अकल्याण किया है, वह सर्व विदित है। परन्तु भूल केवल आलोचकों तथा समीक्षकों की ही नहीं है। आर्यसमाज की उदात्त एवं सार्वभौम शिक्षाओं और सिद्धान्तों को पूर्णतया समझने में स्वयं आर्यसमाजी भी असमर्थ रहे हैं। कुछ ऐसे ऐतिहासिक कारण भी थे, जिनके परिणाम स्वरूप आर्यसमाज को हिन्दू समाज के संरक्षक बनने तथा उसके धार्मिक एवं सामाजिक अधिकारों की रक्षा के लिये सन्नद्ध रहकर संघर्ष करने की भूमिका निभानी पड़ी। फल यह निकला कि जिन-जिन सम्प्रदायों और वर्गों से आर्यसमाज का हिन्दू-हितों की रक्षा के लिये टकराव हुआ उन्होंने आर्यसमाज को अपना कट्टर विरोधी और शत्रु मान लिया। मुसलमान मौलवियों के द्वारा तब लीग का प्रचार करने और उचित अनुचित सभी तरीकों से हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के कार्यक्रम का आर्यसमाज ने डटकर विरोध किया और इस खतरनाक आक्रमणात्मक कार्यवाही का सामना करने के लिये जब उसने शुद्धि और संगठन का कार्यक्रम चलाया, तो मुसलमानों की ही भांति यथाकथित राष्ट्रीय नेताओं के भी कान खड़े हो गये और वे आर्यसमाज को इस्लाम का विरोधी, कौमी एकता का शत्रु, असहिष्णु

साम्प्रदायिक-दल मान बैठे। खेद और आश्चर्य होता है कि महात्मा गांधी जैसे विचारशील महापुरुष ने भी आर्यसमाज का मूल्यांकन करने में एकांगी दृष्टिकोण का परिचय दिया और मुसलमानों के प्रति अपने सुविदित पूर्वाग्रह के कारण आर्यसमाज के प्रवर्तक को असहिष्णु तथा उसके द्वारा रचित सत्यार्थ-प्रकाश को निराशापूर्ण पुस्तक बताया। इसी प्रकार ईसाई प्रचारकों के राष्ट्र विरोधी हथकण्डों का विरोध करने में आर्यसमाज जब अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देता है तो लोगों को यह भ्रान्ति हो जाती है कि वह ईसाई धर्म का एकान्त विरोधी है।

परन्तु इस एकांगी आलोचना से क्षुब्ध या रुष्ट होकर आर्य समाज अपने कर्तव्य से विमुख नहीं हो सकता। उसका यह सहज विश्वास है कि भारत की राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा उस बहुसंख्यक वर्ग के द्वारा ही होनी सम्भव है जो इस देश के धर्म, सभ्यता, संस्कृति एवं विचारधारा के साथ अविच्छिन्न भाव से जुड़ा हुआ है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि आर्यसमाज पूजा-उपासना की स्वतन्त्रता का विरोधी है, अथवा वह बलात् अन्य मतावलम्बियों को आर्य धर्म में दीक्षित करने का हामी है। आर्यसमाज का तो यह स्पष्ट कथन है कि प्रत्येक भारतवासी को, चाहे वह किसी भी मत का मानने वाला क्यों न हो, इस देश के इतिहास, परम्परा एवं गौरवपूर्ण विरासत के प्रति गर्व का अनुभव करना चाहिए। जो इस देश में रहकर भी विदेशी संस्कृति का गुणगान करते है तथा अपनी सांस्कृतिक एकता अरब, ईरान या इंग्लैण्ड, अमेरिका से जोड़ना चाहते हैं उनके प्रति उसके मन में सहज आक्रोश है।

उपर्युक्त पंक्तियों में आर्यसमाज के प्रति अन्य मतावलम्बियों की भावनाओं को ऐतिहासिक संदर्भ में समझने का यत्न किया गया है। हमारे कथन का यह भी अभिप्राय नही है कि सभी आर्यसमाजी विचारों की संकीर्णता से मुक्त हैं, तथा अन्य मतावलम्बियों के प्रति अपना दृष्टिकोण निर्मित करने में उन्होंने उसी उदारता तथा सदाशयता का परिचय दिया है जो उनके आचार्य दयानन्द ने प्रदर्शित की थी। निश्चय ही अनेक आर्यनाम धारी लोग ईसाई, मुसलमानों के प्रति एकान्त शत्रुभावना रखने को ही संस्था के प्रति अपनी निष्ठा और वफादारी का प्रमाण समझते हैं। परन्तु यह विचारणा निश्चय ही त्रुटि पूर्ण है।

आर्यसमाज ने मानव के व्यापक हित और विश्वबन्धुत्व का जो आदर्श स्वीकार किया है, उसमें अपने से भिन्न मत एवं आस्था रखने वाले व्यक्तियों

के प्रति अनुदारता, असहिष्णुता तथा कठोर भावना रखने के लिये कोई अवकाश नहीं है। उसकी सेवा और साधना से लाभान्वित होने का सभी को अधिकार है। यही कारण है कि आर्यसमाज द्वारा स्थापित सेवा और सहायता केन्द्र बिना किसी वर्ग या सम्प्रदायवगत भेद भाव के, पीड़ित मानवता का त्राण करने के लिये आगे आते हैं। अन्य मतावलम्बियों के प्रति इसी बंधुत्व भावना को स्थिर रखकर तथा प्रेम, सहायता और सेवा द्वारा अर्जित विश्वास के बल पर ही आर्यसमाज अपने भावी आन्दोलन को सच्चे अर्थों में लोक-मंगल का विधायक तथा मानव-जाति का त्राण कर्ता बना सकेगा।

—.—

अध्याय १७

कर्मकाण्ड एवं संस्कार

धर्म का बाह्य रूप कर्मकाण्ड होता है। 'न लिंग धर्मकारणम्' मनु की यह उक्ति कि बाह्य चिह्न धर्म का कारण नहीं होता, यद्यपि सही है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि धर्म में क्रिया का महत्त्व नहीं। वैदिक धर्म तो कर्म, ज्ञान और उपासना रूपी त्रिविध सोपानों पर खड़ा है। महर्षि दयानन्द ने मूर्तिपूजा, कण्ठीमाला, तिलक-धारण, तीर्थयात्रा, प्रतीकोपासना आदि मध्यकालीन साम्प्रदायिक क्रियाकाण्डों का खण्डन कर उनके स्थान पर ईश्वरोपासना के आधारभूत संध्या, प्राणायाम, अग्निहोत्र तथा पंच - महायज्ञ आदि उदात्त एवं मानव शरीर, मन एवं आत्मा का परिष्कार करने में साधनभूत कर्मों का प्रचार किया। यज्ञ की आर्ष एवं पुरातन परिपाटी को भी ऋषि दयानन्द ने ही पुनः प्रचलित कर उसके भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप का विशद निरूपण किया। 'यज्ञ' का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ करते हुए स्वामी जी ने उसे समस्त लोकोपकारी तथा प्राणीहित विधायक कर्मों का प्रतीक माना है। 'पंच-महायज्ञ-विधि' की रचना कर महर्षि ने आर्यों के लिए एक प्रशस्त दैनन्दिन कर्तव्यविधान भी उपस्थित किया।

यह सब कुछ होते हुये भी हम देखते हैं कि आर्यों के कर्मकाण्ड में समानता तथा एकरूपता का नितान्त अभाव है। भारतीय हिन्दू (आर्य) समाज के संगठन तथा दृढ़ीकरण के लिए अपनाये जाने वाले साधनों मे एक साधन जो स्वामी जी ने स्वीकार किया, वह था आर्यों में सामूहिक उपासना प्रणाली का प्रचलन। उदयपुर में निवास करते समय स्वामी जी ने पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या के समक्ष अपना स्पष्ट विश्वास प्रकट करते हुये कहा था – "जब तक इस देश के निवासियों में एक धर्म, एक भाषा, एक सा आचार विचार और परेश पूजा की एक ही प्रणाली का प्रचार नहीं होगा तब तक आर्य जाति विधर्मियों तथा विदेशियों द्वारा त्रस्त, अपमानित एवं पददलित होती रहेगी।" इसी परिप्रेक्ष्य में हमें यह देखना है कि आर्यसमाज अपने धार्मिक कर्मकाण्ड को किस प्रकार लोकप्रिय, उपयोगी तथा प्रभावपूर्ण बनाये ताकि वह उसकी विचारधारा के प्रचार में एक सफल साधन का काम दे सके।

धार्मिक विधियों में एकता की आवश्यकता

यह नितान्त महत्त्वपूर्ण बात है कि कर्मकाण्ड की मूलभूत विधियों में सर्वत्र एकता हो। स्थिति यह है कि संध्या, अग्निहोत्र आदि की जितनी पुस्तकें

प्रकाशित हुई हैं उन में एकरूपता का अभाव है। सम्पादकों और प्रकाशकों ने इन पुस्तकों में बहुत कुछ न्यूनाधिकतायें की हैं। कभी २ तो इन बाजारू पुस्तकों की सहायता से विधि सम्पन्न करने में बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। अन्य धर्मों में हम देखते हैं कि कर्मकाण्ड की विधियों में सर्वत्र एकता है। मुसलमान संसार के किसी भी देश में रहे, उसके नमाज पढ़ने का ढंग एकसा होगा। ईसाइयों की उपासना प्रणाली में भी सार्वदेशिक एकता दृष्टिगोचर होती है। अतः इस बात की महती आवश्यकता है कि आर्यसमाज की सर्वोच्च संस्था 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' अपने आदेशों के द्वारा कर्मकाण्ड में एकरूपता लाने के लिए पूर्ण सचेष्ट हो। संध्या, अग्निहोत्र, तथा अन्य कर्मों के विधायक ग्रन्थों का प्रकाशनाधिकार 'धर्मार्य सभा' को ही रहना चाहिए। यदि अन्य प्रकाशक भी इन विधियों को छापें तो उन्हें मनोनुकूल परिवर्तन करने का अधिकार न रहे। उपदेशकों तथा विद्वानों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे आर्यों के कर्मकाण्ड-विधान का सूक्ष्मता से निरीक्षण एवं परीक्षण करें तथा उसमें पाई जाने वाली त्रुटियों और असंगतियों का परिशोधन करें।

बृहद् यज्ञों का विधान

आर्य समाजों में समय समय पर वेद-पारायण-यज्ञ होते रहते हैं। अनेक बार मन्त्रोच्चार पूर्वक सम्पूर्ण संहिता के आधार पर यज्ञ कराने के शास्त्रीय औचित्यानौचित्य का प्रश्न उठाया गया है। अनेक विद्वानों ने इन वेद-पारायण-यज्ञों के पक्ष अथवा विपक्ष में अपनी सम्मतियां दी हैं। यह आशंका भी व्यक्त की गई कि क्या ये वेद पारायण यज्ञ प्राचीन कर्मकाण्ड ग्रन्थों से अनुमोदित हैं अथवा स्वयं आर्य समाजी-याज्ञिकों की ऊहा पर ही आधारित हैं। यह स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए कि आर्य समाज ने यज्ञों की श्रोत विधियों तथा कल्प सूत्रों मे विवेचित इष्टियों का मनोनिवेश पूर्वक न तो अध्ययन ही किया है और न आज के युग में उनकी व्यावहारिकता अथवा अव्यवहारिकता पर ही अपनी सम्मति दी। वस्तुतः आर्यसमाज का एतद्-विषयक दृष्टिकोण शास्त्रीय जटिलताओं से बचकर यज्ञों को बहुत कुछ व्यवहारमूलक बनाने का रहा है। इसी दृष्टिकोण से आर्यसमाजी विद्वानों ने वेद-पारायण-यज्ञों को प्रशस्त माना जिनके द्वारा वेदपाठ के साथ साथ मन्त्रों के अर्थों पर विचार तथा उनकी मानव जीवन के लिए उपयोगिता भी लोगों के समक्ष प्रस्तुत की जा सकती है। अतः चेष्टा यह होनी चाहिए कि बृहद् यज्ञों के माध्यम से जनता में प्राचीन कर्मकाण्ड के प्रति श्रद्धा और आस्था के भाव जागृत किये जायें तथा यथासम्भव इन यज्ञों के अवसरों पर आयोजित विविध

सम्मेलनों और गोष्ठियों के द्वारा आर्य समाज के संदेश का प्रसारण किया जा सके।

कर्मकाण्ड पर विचार करने के प्रसंग में ही षोडश संस्कारों के विधान, प्रचलन तथा वैदिक विचारधारा के प्रसार में उनकी भूमिका पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। हमारे यहां मानव शरीर, मन तथा आत्मा के सर्वतोमुखी विकास हेतु संस्कारों का विधान किया गया है। स्वामी दयानन्द ने विविध गृह्यसूत्रों की उपयोगी विधियों का संकलन कर उन्हें व्यवस्थित रूप प्रदान किया और 'संस्कार विधि' के रूप में एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की, जो संस्कारों के महत्त्व और गौरव की प्रतिष्ठा करने के साथ साथ उनके विधिभाग को भी प्रस्तुत करता है। स्वामी जी ने अपने जीवन काल में सहस्रों लोगों को गायत्री-मंत्र की दीक्षा दी, संध्या-विधि सिखाई, कई युवा एवं प्रौढ़ व्यक्तियों का उपनयन-संस्कार सम्पन्न कराया तथा अन्य सभी संस्कार वेदोक्त परिपाटी से करने की प्रथा चलाई। आर्यसमाज ने भी अपने प्रवर्तक का आदेश स्वीकार कर संस्कारों का यथाशक्य प्रचार किया।

यहां यह देखना अप्रासंगिक न होगा कि आर्य समाज में प्रचलित संस्कारों की वस्तुस्थिति क्या है, तथा उनमें कौन से परिवर्तन अभीष्ट हैं। संस्कारों का यथेष्ट प्रचार तो हुआ परन्तु उनमें जो प्रभविष्णुता अपेक्षित थी, वह नहीं आ पाई। आज आर्यसमाज में प्रचलित संस्कार भगवद्गीता में कथित 'मंत्रहीनं क्रियाहीनं विधि हीनं अदक्षिणम्' की उक्ति को चरितार्थ करते हैं। कारण यह है कि सर्वसाधारण में तथा विशेषतः आर्य जनता में यह भ्रांति प्रचलित हो गई है कि आर्य समाजी विधि से कराये जाने वाले संस्कार सब से सस्ते और सुगम होते हैं। फलतः आर्य समाज के वेतनभोगी पुरोहितों को आहूत कर येन-केन-प्रकारेण संस्कार का आडम्बर पूरा कर लिया जाता है।

'संस्कार-विधि' वर्णित १६ संस्कार तो शायद ही किसी आर्य परिवार में संपूर्णतया किये जाते हों। आज के कामवासना प्रधान युग में गर्भाधान संस्कार की तो चर्चा ही व्यर्थ है। पुंसवन, सीमन्तोन्नयन और जात-कर्म जैसे संस्कार भी शास्त्रोक्त विधि से शायद ही कहीं किये जाते हों? हां इन अवसरों पर किये जाने वाले रूढ़ि प्रधान लौकिक कृत्य तो सभी परिवारों में यथापूर्व होते ही हैं। बाल्यकाल से सम्बन्धित नामकरण, चूडा-कर्म अवश्य किये जाते हैं परन्तु कर्णवेध और निष्क्रमण संस्कार नामशेष ही रह गये हैं। कभी कभी कोई भूले भटके अन्न-प्राशन भी करा लेते हैं। यज्ञोपवीत और

वेदारम्भ संस्कार प्रथापालन के रूप में होते हैं। कई व्यक्ति तो अपने पुत्रों का विवाह के अवसर पर ही यज्ञोपवीत कराते हैं। उनकी दृष्टि में यज्ञोपवीत का कोई पृथक् महत्त्व नहीं है। ऐसी स्थिति में उपनयन के पश्चात् शास्त्राध्ययन और उसकी समाप्ति पर समावर्तन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। वानप्रस्थी बनने वाले व्यक्ति वनस्थ होने की अपेक्षा अपनी गृहस्थी को भी पूर्णतया नहीं त्याग पाते और सन्यास लेने वाले व्यक्ति भी पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा का पूर्णतया परित्याग कर सर्वजनमैत्री और लोकमंगल के लिए अपने आपको उत्सर्ग नहीं कर पाते।

सस्कारों के द्वारा व्यक्ति-जीवन तो समुन्नत होता ही है, उस के द्वारा समष्टि का हित साधन भी सम्भव हैं, यह ध्यान में रखना चाहिए। जो सस्कार विधिपूर्वक, शास्त्रवर्णित मर्यादानुसार, सुयोग्य पुरोहित के सचालन में सम्पन्न किया जायेगा वह अपना निश्चित प्रभाव समाज पर डालता है। परन्तु इसके लिए आवश्यकता है ऐसे कर्मकाण्ड-कुशल, अनुभवी पुरोहितों की, जो संस्कारों को प्रभावशाली ढंग से करा सकें। आर्यसमाज मे पौरोहित्य कर्म उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता रहा। आर्य समाजों में नियुक्त पुरोहितों से पीर, बबर्ची, भिश्ती वाले सभी कार्य कराये जाते हैं। न तो उन्हें उचित वेतन ही मिलता है और न सम्मान ही। ऐसी स्थिति में या तो कोई व्यक्ति पुरोहित बनना नहीं चाहता अथवा यदि वह परिस्थितिवश बनता भी है, तो अवसर आते ही इस वृत्ति को तिलांजलि देकर अन्य कार्य में लग जाता है। अनेक समाजों म तो पुरोहित के न होने पर समाज के निरक्षर सेवक या अल्पशिक्षित मन्त्री आदि भी 'सस्कार विधि' की पोथी बगल में दबाकर संस्कार-निष्णात पुरोहित का पार्ट अदा करते हैं।

संस्कारों द्वारा जन-शिक्षण और विचार-प्रसार के लिए आवश्यक है कि पुरोहितों के प्रशिक्षण के लिए सार्वदेशिक सभा के तत्त्वावधान में पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाय। इस पाठ्यक्रम में उत्तीर्ण होने वाले तथा उसके पश्चात् अनुभवी पुरोहितों के सान्निध्य में यज्ञ एवं संस्कार सम्पन्न कराने का व्यावहारिक शिक्षण प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को ही पुरोहित नियुक्त किया जाये। पुरोहित की प्रशिक्षणविधि में विभिन्न गृह्य-सूत्र, संस्कार-विधियां तथा एतद्-विषयक आलोचनात्मक साहित्य रहना चाहिए। आज के युग में मात्र शास्त्र-निर्दिष्ट विधि कराना ही पर्याप्त नहीं है, जागरूक दर्शक संस्कारकर्ता से यह भी अपेक्षा रखते हैं कि वह विधि-विधानों की वैज्ञानिक तथा बुद्धिगम्य व्याख्या कर सस्कारों की उपयोगिता सिद्ध कर सकें फलतः संस्कारों में की जाने वाली

प्रत्येक विधि की उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए संस्कारों की शरीरशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्रीय तथा आयुर्वेद मूलक व्याख्या का ज्ञान भी पुरोहितों को होना चाहिए। 'संस्कार-चन्द्रिका' जैसी पुस्तकें इसी दृष्टिकोण से लिखी गई है।

संस्कारों की व्याख्या के प्रसंग में एक बात और भी स्मरणीय है। स्वामी दयानन्द के अनुसार संस्कार में क्रिया का महत्त्व विशेष है। परन्तु किन्हीं आर्य पुरोहितों में यह बात देखी गयी है कि वे व्याख्यान देने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देते। वस्तुतः विधि पूर्वक जो क्रियायें कराई जाती हैं, वे भी दर्शकों पर उतना ही प्रभाव डालती हैं जितना उनका व्याख्यान। अतः संस्कारों को पूर्ण भावना, श्रद्धा तथा तत्परता के साथ कराया जाना चाहिए। संस्कारों में सादगी बरतना भी आवश्यक है। अनावश्यक आडम्बर तथा धन का अपव्यय संस्कारों के महत्त्व को धूमिल बना देता है। आज विवाह आदि संस्कारों में आतिशबाजी, बैन्ड, रोशनी आदि पर तो अपव्यय होता है परन्तु संस्कार कराने वाले विद्वान् को न तो पूरी दक्षिणा ही दी जाती है और न संस्कार में प्रयुक्त होने वाली सामग्री का संग्रह ही भली प्रकार से किया जाता है। ऐसी स्थिति में संस्कारों का उपयुक्त प्रभाव जनसामान्य पर पड़ना संभव नहीं है।

अतः संस्कारों को वैदिक विचारधारा के प्रसारण का एक प्रभावी माध्यम बनाने के लिए उपर्युक्त प्रयत्न करने अपेक्षित हैं।

—o—

अध्याय १८

धार्मिक, सामाजिक संघर्षों और आन्दोलनों में आर्य समाज की भूमिका

संघर्ष और आन्दोलन किसी संस्था या समाज के लिये परीक्षा की घड़ियां होती है। आर्य समाज भी अपने एक शताब्दी के सुदीर्घ जीवन काल में ऐसी विभिन्न संघर्ष कालीन परिस्थितियों से गुजर चुका है। धार्मिक और सामाजिक अधिकारों की रक्षा के लिए उसने अनेक आन्दोलन किये तथा उनमें सफलता प्राप्त की। आर्य समाज के इतिहास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि संघर्ष की घड़ी में उसके अनुयायियों ने जिस साहस, धैर्य तथा संयम का परिचय दिया, उसी का परिणाम निकला कि लक्ष्य प्राप्ति में उसे कभी विफलता नहीं मिली। निजाम हैदराबाद में धार्मिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए आर्य समाज ने १९३९ ई० में जो सत्याग्रह संचालित किया, वह उसके गौरवपूर्ण इतिहास का ज्वलन्त पृष्ठ है। हैदराबाद के मतान्ध शासकों ने सामान्यतया समस्त हिन्दू धर्मावलम्बियों और विशेषतः आर्य समाज के धर्म प्रचार के कार्य में जो बाधायें खड़ी की थी, उनके कारण समाजमंदिरों का निर्माण, उनपर ओम् ध्वज लहराना, सत्संग आदि के आयोजन, अन्य प्रान्तों के उपदेशकों का प्रचारार्थ निजाम राज्य में आना बंद कर दिया गया था। सत्याग्रह को जिस अहिंसात्मक पद्धति से संचालित किया गया तथा देश के सभी विचारशील लोगों ने उसमें जिस प्रकार सहयोग किया, उसी के कारण यह संभव हुआ कि हैदराबाद के निरंकुश शासकों को घुटने टेकने पड़े तथा आर्य समाज ने धार्मिक संघर्ष में अद्वितीय विजय प्राप्त की।

धार्मिक आजादी के लिए संघर्षों की कहानी अन्य भी अनेक प्रसंगों में दोहराई गई। धौलपुर और लोहारु जैसे राज्यों में भी आर्य समाज को कठिनाई के दौर से गुजरना पड़ा। १९४६ ई० में देश विभाजन के एक वर्ष पूर्व जब सिंध के मुस्लिम लीगी मंत्रीमंडल ने स्वामी दयानन्द की अमर कृति 'सत्यार्थ प्रकाश' के चौहदवे समुल्लास पर प्रतिबन्ध लगा दिया तो आर्य समाज ने एक बार और सत्याग्रह के आयुध को आजमाया। किसी धर्म ग्रन्थ के किसी अंश पर केवल इसीलिए प्रतिबन्ध लगाना अनुचित और विचार स्वातंत्र्य का हनन है कि उसमें किसी मत या सम्प्रदाय विशेष के विचारों की आलोचना की गई

है। इसी आधार पर आर्य समाज ने सिंध में 'सत्यार्थ प्रकाश' पर प्रतिबंध के विरोध में प्रबल जनमत जागृत किया और अन्ततः विजय प्राप्त की।

यहाँ आर्य समाज के अन्यान्य संघर्षों और आन्दोलनों का ऐतिहासिक विवरण देना हमारा लक्ष्य नहीं है। स्वतंत्रता के पश्चात भी आर्य समाज ने कतिपय ऐसे आन्दोलनों का नेतृत्व और संचालन किया जो उसके लिए अत्यन्त महत्त्व के थे। पंजाब में हिन्दी भाषा के प्रचार और प्रसार का श्रेय मुख्यतः आर्यसमाज को ही है। परन्तु जब सिक्ख साम्प्रदायिकता से प्रभावित होकर पंजाब की सरकार ने हिन्दी-भाषी लोगों को पंजाबी सीखने के लिए बाध्य किया, तथा उस प्रान्त की पाठशालाओं में पंजाबी का अध्ययन अनिवार्य कर दिया, तो भाषा स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना आर्य समाज के लिए एक अनिवार्य दायित्व बन गया। फलतः १९५६-५७ में पंजाब में हिन्दी रक्षा आन्दोलन का सफल संचालन करते हुए आर्यसमाज ने सरकार को यह बताने का प्रयत्न किया कि मातृभाषा के लिए वह तत्परतापूर्वक बलिदान करने के लिए कृतसंकल्प है। यद्यपि कतिपय कूटनीतिक चालों के कारण इस आन्दोलन में आर्यसमाज को अपेक्षित सफलता नहीं मिली, परन्तु उसकी भाषा विषयक स्पष्ट नीति ने यह प्रकट कर दिया कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह अधिकार सुरक्षित रहना चाहिए कि वह अपने बालक की शिक्षा किसी भी भाषा के माध्यम से करा सकता है। एक विचारणीय बात यह भी है कि भाषा की स्वतन्त्रता का प्रश्न केवल किसी वर्ग विशेष के साथ ही जुड़ा हुआ नहीं है। यों तो भारतीय संविधान ने अल्प-संख्यक वर्ग के लोगों की भाषा स्वतन्त्रता को स्वीकार किया है, और इसी आधार पर पंजाब के आर्य समाज द्वारा संचालित स्कूलों और कॉलेजों को हिन्दी के माध्यम से शिक्षण प्रदान करने का अधिकार भी सर्वोच्च न्यायालय ने मान लिया है, तथापि भाषा-आन्दोलन का प्रवर्तन करने से पूर्व यह देख लेना उचित होता कि प्रान्त की अधिकांश जनता का दृष्टिकोण क्या है? स्वतन्त्रता-पूर्व की परिस्थितियां आज की परिस्थितियों से निश्चय ही भिन्न थीं। विदेशी शासकों से धार्मिक अथवा सामाजिक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते समय समस्त जनता की सहानुभूति और सहायता प्राप्त करने में अधिक कठिनाई नहीं होती थी, किन्तु अपने ही देशवासी शासकों से संघर्षात्मक परिस्थिति में उतर कर टक्कर लेना कुछ अधिक कठिन होता है। हिन्दी-रक्षा-आन्दोलन की फलश्रुति निश्चय ही आर्य समाज के लिए अधिक उत्साहवर्धक सिद्ध नहीं हुई।

गोरक्षा के लिए आर्य समाज सदा से ही प्रयत्नशील रहा है। स्वामी दयानन्द ने तो अपने जीवनकाल में यह चेष्टा की थी कि वैधानिक उपायों से

गोवध पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए अंग्रेज सरकार को मनाया जा सके। उनके निधन के कारण गोरक्षा के लिए किये गये आर्यसमाज के प्रारम्भिक प्रयास अधूरे रह गये। जब देश स्वतन्त्र हुआ और भारतीय संविधान के निर्माताओं ने यह प्रावधान किया कि गोवंश के दुधारू पशुओं के वध पर रोक लगाने का अधिकार शासकों को है, तो आर्य समाज ने यह आशा रखी थी कि संभवत: महात्मा गांधी के गोरक्षा विषयक कार्यों और विचारों से सम्पूर्ण सहमति रखने वाले कांग्रेसी शासक गोवध के नृशंस कृत्य को रोक कर देश के भयंकर आर्थिक विनाश पर किंचित अंकुश लगाने में समर्थ होंगे। आर्य समाज को बड़ी निराशा हुई जब उसने देखा कि कुछ सम्प्रदायों की तुष्टि के लिए ही गौ जैसे उपयोगी पशु के निर्मम वध पर प्रतिबन्ध लगाने में सरकार को संकोच हो रहा है और वह अनेक प्रकार के हीले हवाले कर संविधान की मशा को स्वीकार करने से कतरा रही है। ऐसी स्थिति में एक बार पुन: उसे संघर्ष का मार्ग अपनाना पड़ा।

गोरक्षा के लिए सत्याग्रह और आन्दोलन करने में आर्य समाज अकेला नहीं था। देश के करोड़ों सनातन धर्मावलम्बी, जैन, सिक्ख आदि हिन्दू-धर्म के वृहद् समुदाय में गिना जाने वाले वर्ग भी उसके साथ थे। १९५४-५५ में भी आर्यसमाज के तत्कालीन मूर्धन्य नेता स्वामी ध्रुवानन्द जी सरस्वती के नेतृत्व में देश के लाखों नागरिकों के गोवध निषेध के समर्थन में हस्ताक्षर करा कर आर्य समाज सरकार को प्रस्तुत कर चुका था। किन्तु जब उसने यह अनुभव किया कि वैधानिक उपायों से गोरक्षा में सफलता मिलना सम्भव नहीं है, तो विवश होकर उसके सत्याग्रह का मार्ग अपनाया। इस बार आन्दोलन का नेतृत्व 'गोवध निषेध समिति' के हाथ में था, जिसमें आर्य समाज के कतिपय शीर्षस्थ नेताओं के अतिरिक्त सनातनधर्म तथा जैन समुदाय के अग्रगन्ता साधु-गण भी थे। आन्दोलन के फलितार्थों पर विचार करने का अभी समय नहीं आया है, क्योंकि सरकार ने एक समिति की स्थापना कर देश की जनता को यह आश्वासन दिया था कि वह गोवध निषेध के संबन्ध में उक्त 'परामर्श-दायिनी-समिति' की सिफारिशों पर सहानुभूति पूर्वक विचार करेगी। समिति की रिपोर्ट अभी प्रतीक्षित ही है।

यहां भी हमें यह लिखने में कोई संकोच नहीं होता कि गोरक्षा का प्रश्न केवल हिन्दुओं या आर्यसमाज से ही संबंधित नहीं है। यदि उसे एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किया जाय तो न केवल हिन्दू, अपितु सभी देशवासी उसकी महत्ता और उपयोगिता को स्वीकार करेंगे। आर्य समाज ने तो प्रारम्भ से ही गोरक्षा को आर्थिक दृष्टि से देखा तथा देश की

आर्थिक स्थिति को समुन्नत और सुदृढ़ बनाने के लिए गाय तथा अन्य उपयोगी पशुओं के हनन का विरोध किया। एक सीमा तक यह भी स्वीकार करना होगा कि गोरक्षा का प्रश्न हिन्दू जनता की भावना का प्रश्न बन गया है। गाय के साथ अशेष जन-समाज की श्रद्धा और आस्था के भाव जुड़े हुए हैं और लोक-तन्त्र का यह तकाजा है कि वह बहुमत की भावनाओं का आदर करते हुए गोवध पर प्रतिबन्ध लगाये।

आर्य समाज को ऐसे प्रश्नों पर अत्यन्त संतुलित और प्रबुद्ध ढंग से अपने विचार प्रस्तुत करने चाहिए। किसी आन्दोलन को भावावेश की स्थिति में अंगीकार करने की अपेक्षा उसके गुणावगुणों पर विचार करने के पश्चात् ही उसके संबंध में अपनी रीति-नीति को स्थिर करना चाहिए। हमारे विचार से गोरक्षा के समर्थन में प्रबल जनमत एकत्र किया जाय। इतर धर्मावलम्बियों को गोरक्षा के लाभ तथा गोवध से होने वाली हानियों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी दी जाय, तथा यह भी बताया जाय कि गोहत्या को किसी भी धर्म या मत में विधायक कर्तव्य नहीं माना गया है। यदि इस प्रकार का बुद्धिवादी आधार लेकर गोरक्षा आन्दोलन का निकट भविष्य में सूत्र संचालन किया जाय, तो निश्चय ही उसमें सफलता प्राप्त हो सकती है।

समग्रतः हम कह सकते हैं कि देश और समाज की विभिन्न कठिनाइयों को दूर करने, धर्म, संस्कृति, और सभ्यता के प्रचार में बाधक बनने वाली परिस्थितियों के निराकरण के लिए आर्य समाज को आन्दोलन एवं संघर्ष का मार्ग अपनाने से विरत नहीं होना है। परन्तु साथ ही यह भी देखना होगा कि जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संघर्ष और आन्दोलन का मार्ग अपनाया जा रहा है, वे आर्य समाज के आदर्शों और सिद्धान्तों से कितनी अनुकूलता रखते हैं। आज आर्य समाज के आन्दोलन को अधिकाधिक गतिशील शक्तिशाली और प्राणवान् बनाने के लिए आवश्यक है कि हम निम्न मुद्दों पर अपना ध्यान केन्द्रित करें और जनमत को प्रभावशाली ढंग से उचित दिशा-निर्देश प्रदान करें।

१ धर्म के नाम पर बढ़ने वाले ढोंग, पाखण्ड और आडम्बर के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन उपस्थित कर नकली भगवानों, पाखण्डी धर्माचार्यों और जनता की धार्मिक भावनाओं का अनुचित लाभ उठा कर उन्हें गुमराह करने वाले योगियों, अध्यात्म गुरुओं तथा मठाधीशों के प्रभुत्व को समाप्त करने का प्रयास।

२ जन-समाज में व्याप्त अनैतिकता, भ्रष्टाचार तथा नैतिक मूल्यों के चतुर्मुखी ह्रास को रोकने के लिये चरित्र निर्माण का व्यापक आन्दोलन संचालित किया जाना चाहिए।

३ जनता के उचित सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकारों की सुरक्षा के लिये भी आर्य समाज को तत्परतापूर्वक कार्य करना होगा।

४ युवा शक्ति, जो किंकर्तव्यविमूढ़ होकर दिग्भ्रान्त हो रही है, आर्यसमाज से यह आशा रखती है कि वह उसे उचित मार्गदर्शन प्रदान करें। अन्य राजनैतिक दल जहां युवकों को अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए शतरंज का मोहरा बनाते हैं, वहां आर्य समाज का यह दायित्व होगा कि वह उनके समग्र योगक्षेम का चिंतन करता हुआ युवक-वर्ग को उन्मार्गगामी शक्तियों के चंगुल से छुड़ाकर सन्मार्गगामी बनाये।

———

उपसंहार

प्रश्न जो समाधान चाहते हैं ?

विगत अध्यायों में हमने भारत के राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के एक महान् आन्दोलन-आर्यसमाज की उपलब्धियों की चर्चा करते हुये देश के धार्मिक, सामाजिक और सार्वजनिक जीवन में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। हमने उन ऐतिहासिक परिस्थितियों का भी विस्तृत उल्लेख किया जिसके कारण नव-जागरण की लहर देश में उत्पन्न हुई और उसने जन-मानस को विभिन्न प्रकार से झकझोरने का प्रयास किया। आर्यसमाज की सफलताओं तथा उसके युग-व्यापी प्रभाव का आकलन करने के साथ-साथ परिवर्तित परिस्थितियों में उसे किस प्रकार अपने कार्यक्रम, शैली तथा प्रचार-पद्धति में परिवर्तन करना होगा, इस पर भी हमने अपने विनम्र विचार प्रस्तुत किये हैं।

यहां कुछ ऐसे प्रश्न उपस्थित किये जा रहे हैं जिनका समाधान हमें तत्परतापूर्वक ढूंढना होगा। आज के भौतिकता प्रधान युग में लोगों की धार्मिक आस्थायें डावांडोल हो चुकी हैं। धन और लौकिक सुखों के आकर्षण ने मानव को अंधा बना दिया है। विज्ञान की द्रुतगामी प्रगति और बौद्धिक शुष्क चिंतन ने आत्मा, ईश्वर और परलोक के प्रति प्रश्नवाचक चिन्ह खड़े कर दिये हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में जब कि एक ओर मानव धर्म, नैतिकता और मानवता को संपूर्णतया तिलांजलि देकर लौकिक सुखों के प्रति बेतहाशा दौड़ रहा है, हम यह भी देखते है कि धर्म, अध्यात्म और योग आदि के नाम पर नाना प्रकार के पाखण्ड मत चल पड़े हैं और स्वार्थी लोग इन उदात्त और महनीय तत्वों का विद्रूप जन-सामान्य के समक्ष प्रस्तुत कर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। प्रश्न यह है कि क्या आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित युक्ति और विज्ञान-सिद्ध धर्म के प्रति लोगों के हृदय में आकर्षण उत्पन्न नहीं होता और वे पाखण्डी साधु-सन्तों और मत-प्रवर्तकों के माया-जाल में फंस रहे हैं ? एक ओर जहां नवीन पाखण्ड मतों की बाढ़ आ रही है, वहां पौराणिक मत के विभिन्न सम्प्रदाय तथा अन्य मतावलम्बी लोग भी अपने अनुयायियों की श्रद्धा और आस्था का संबल पाकर अपना प्रचार बढ़ा रहे हैं। नये-नये मन्दिरों की स्थापना मेलों और तीर्थों का जन-संकुल वातारण, महन्तों, मठाधीशों और महामण्डलेश्वरों का ऐश्वर्यपूर्णपरिकर निरन्तर बढ़ रहा है।

तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस विषम परिस्थिति में आर्यसमाज बुद्धिग्राह्य एवं विज्ञानानुमोदित धर्म का तात्त्विक रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत करने में कैसे सफल हो सकता है ?

आर्यसमाज ने जो समाज सुधार के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किये, वे आज शासन तथा समाज द्वारा स्वीकृत हो चुके हैं। पुन: आर्यसमाज अपने समाज-सुधार के कार्यक्रम में किस नवीनता और ऊष्मा का संचार करे कि जिसके फलस्वरूप वह जड़ताग्रस्त समाज को नवीन उद्बोधन और प्रेरणा दे सके। निश्चय ही क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तनों को क्रियान्वित करने के लिये उसके पास न तो कोई प्रलोभनीय पुरस्कार हैं और न शासकीय सत्तासुलभ दण्ड और अनुशासन। तब केवल उपदेश, प्रचार और शिक्षण के द्वारा ही वह समाज में वांछित परिवर्तन लाने में कैसे समर्थ हो सकता है ?

एक अन्य प्रश्न सरकार के दृष्टिकोण का भी है। स्वामी दयानन्द की शिक्षायें और मान्यतायें अपने आपमें इतनी क्रान्तिकारी और विप्लवजनक हैं कि साधारण मनुष्य तो क्या, बड़े-बड़े शक्तिशाली सत्ताधारी लोग भी उनके साथ अपना मानसिक सामंजस्य और वैचारिक तालमेल स्थापित करने में असमर्थ हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि सरकार देश के परम्परागत मूल्यों को महत्त्व देने के प्रसंग में कभी तो बुद्ध की शिक्षा और विचारधारा को संरक्षण प्रदान करती है तो कभी तीर्थंकर महावीर की जन्म-जयन्ती को सरकारी स्तर पर मानने का आयोजन करती है। अपने साम्प्रदायिक संतुलन को कायम रखने के लिये वह कभी गालिब जन्मशताब्दी पर लाखों रुपया व्यय कर धर्मनिरपेक्ष होने का प्रमाण देती है, तो कभी रामकृष्ण और विवेकानन्द की सहिष्णुतावादी विचारधारा का स्तुति-पाठ करती है। निश्चय ही आर्यसमाज और उसके प्रवर्तक की प्रशस्ति में कुछ औपचारिक शब्द शासक-समुदाय के लोगों के मुख से भले ही निकल जायें, वे दयानन्द की तेजस्विनी विचारधारा और आर्यसमाज के यथार्थवादी स्वर से आतंकित, भयभीत तथा हतप्रभ से रहते हैं ऐसी स्थिति में उनकी सच्ची सहानुभूति और सहायता प्राप्त कर लेना एक दिवास्वप्न ही कहा जायगा।

जब आर्यसमाज के प्रति शासन सत्ता का यह उदासीनता पूर्ण तथा कभी कभी द्वेषपूर्ण विरोधी रूख हो, तो क्या आर्यसमाजियों का यह कर्तव्य नहीं हो जाता कि राजाश्रय की मृगतृष्णा का परित्याग कर, उसी स्वावलम्बन की नीति का अनुसरण करें, जिसके बल पर वे अब तक देश और मानव

जाति को प्रभावित करते हुये अपने कर्तव्य पालन में रत रहे हैं ? यह सत्य है कि धर्म और आन्दोलन कभी कभी राजसत्ता का आश्रय और आलम्बन पाकर विश्वव्यापी हो जाते हैं, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि अनुयायियों का प्रचण्ड आत्म-विश्वास, अपनी मान्यताओं और आस्थाओं के प्रति उनका अनन्य श्रद्धा-भाव, अपने सिद्धान्तों को विश्व-व्यापी बनाने की उत्कट लगन और अदम्य इच्छा भी विचारों के प्रसार में प्रभावी साधन बनते हैं। अतः अपनी प्रिय संस्था के जीवन की एक गौरवपूर्ण अवधि की समाप्ति-वेला में आर्य-जनों को अधिकाधिक उत्साह के साथ अपने कर्तव्यपालन में संलग्न होना होगा। यदि लेखक के द्वारा निर्दिष्ट कार्यक्रमों तथा आयोजनों को तत्परतापूर्वक क्रियान्वित करने की क्षमता आर्यसमाज ने दिखाई, तो वह अपनी प्रगति द्वितीय चरण में भी इसी प्रकार की लोकप्रियता, विश्वास तथा जन-साधारण का अनुराग अर्जित कर सकेगा जैसा उसने विगत शताब्दी की दीर्घ अवधि में किया है।

—o—

परिशिष्ट :

(अ) परिचयात्मक ग्रन्थ

	नाम ग्रन्थ	लेखक
१	आर्य समाज परिचय	मुन्शी समर्थदान
२	आर्य सिद्धान्त-मार्तण्ड भाग २	पं० मनोहरलाल विष्णुलाल पण्ड्या
३	आर्य समाज	पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय
४	आर्य समाज क्या है ?	,,
५	आर्य समाज क्या है ?	महात्मा नारायण स्वामी
६	आर्य समाज क्या है ?	,,
७	आर्य समाज क्या है ?	,,
८	आर्य समाज क्या है ?	ब्रजनाथ बी० ए०
९	आर्य समाज की आवश्यकता	पं० सूर्यदेव शर्मा
१०	आर्य समाज की आवश्यकता	,,
११	आर्य समाज का परिचय	पं० रघुनाथप्रसाद पाठक
१२	आर्य समाज और उसका संदेश	,,
१३	आर्य समाज का परिचय	बदलूप्रसाद गुप्त
१४	आर्य समाज की कहानी	विश्वप्रकाश, बी. ए. एल. एल. बी.
१५	आर्य समाज	लाला रामगोपाल
१६	आर्य समाज का काम	मेहता जैमिनी
१७	आर्य समाज परिचय	पं० महेन्द्रप्रताप शास्त्री
१८	आर्य समाज ने क्या किया ?	पं० छुट्टनलाल स्वामी
१९	आर्य समाज दर्शन	रामचन्द्र 'जावेद'
२०	आर्य समाज का परिचय	शान्त स्वामी अनुभवानन्द
२१	आर्य समाज और उसके मुख्य सिद्धान्त	
२२	आर्य समाज क्या है ?	पं० मनसाराम 'वैदिकतोप'
२३	आर्य समाज प्रश्नोत्तरी	
२४	आर्य समाज एक दृष्टि में	
२५	आर्य समाज के लोकोपकारी कार्य	आचार्य मित्रसेन
२६	आर्य समाज: एक सरल परिचय	ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम'
२७	आर्य समाज क्या मानता है ?	कविराज हरनामदास

आर्यसमाज विषयक सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

प्रकाशक	प्रकाशन-काल
	१९५४ वि०
वैदिक यंत्रालय, अजमेर	१८९२ ई०
शारदा मन्दिर, दिल्ली	१९८१ ई०
आर्य समाज चौक, प्रयाग ट्रैक्टमाला	२९
राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली	
सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली	२०१२ वि०
सत्यप्रकाशन, मथुरा	
आर्य समाज अजमेर	१९३६ ई०
वैदिक साहित्य सदन, दिल्ली	
आर्य साहित्य सदन, दिल्ली	
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली	१९७५ ई०
महेश पुस्तकालय, अजमेर	
कला प्रेस, प्रयाग	
आर्य समाज दीवान हाल, दिल्ली	
रोशनलाल आर्य सेवक	१९३७ ई०
सार्वदेशिक सभा, दिल्ली	२०१८ वि०
स्वामी प्रेस, मेरठ	१९१० ई०
आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब	
आर्यकुमार सभा, कलकत्ता	१९८२ वि०
के०सी० भल्ला इलाहाबाद	
हंसराज ट्रस्ट जाखल	२०२३ वि०
आर्य उपप्रतिनिधि सभा, अमरोहा	
भारतवर्षीय वैदिक सिद्धान्त परिषद्, अलीगढ़	१९६८ ई०
सत्य प्रकाशन, मथुरा	२०२६ वि०

नाम ग्रन्थ	लेखक
२८ आर्य समाज के लोकोपकारी कार्य	आचार्य मित्रसैन
२९ आर्य समाज की विचारधारा	क्षितीशकुमार वेदालंकार
३० आर्य समाज क्या मानता है ?	डा० कृष्णवल्लभ पालीवाल
३१ आर्य समाज क्या मानता है ?	पं० मदनमोहन विद्यासागर
३२ आर्य समाज के मन्तव्य	पं० रामचन्द्र देहलवी

(आ) आर्य समाज विषयक शोध ग्रन्थ

१ हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य-समाज की देन	डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त
२ ऋषि दयानन्द और आर्य समाज की संस्कृत साहित्य की देन	डा० भवानीलाल 'भारतीय'
3 The Arya Samaj and Indian Nationalism.	Dr. Dhanpati Pandeya
4 The Contribution the Arya-Samaj in the making of Modern India.	Dr R. S. Pareek

(इ) आर्य समाज के नियमों की व्याख्या

१ आर्यावर्तान्तर्गत आर्य समाजों के दस नियम	मोहनलाल वि० पण्ड्या
२ आर्य समाज के दस नियमों की अपूर्व व्याख्या	,,
३ आर्य सामाजिक धर्म	स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
४ ,,	,,
५ दश नियम व्याख्या	पं० रघुनाथप्रसाद पाठक
६ आर्य समाज के दस नियम: अपूर्व व्याख्या	,,
७ स्वर्ण सिद्धान्त	श्री जगदीशचन्द्र विद्यार्थी
८ ,, (तेलगु)	अनु० रुद्रदेव शास्त्री
९ दश नियम शिखरिणी	पं० ज्वालादत्त शर्मा
१० आर्य समाज के द्वितीय नियम की व्याख्या	पं० शिवपूजनसिंह कुशवाहा

प्रकाशक	प्रकाशन-काल
श्रद्धा-पुस्तक-माला ३७	१९६४ ई०
लखनऊ वि० वि०	२०१८ वि०
रामलाल कपूर ट्रस्ट	२०२५ वि०
S. Chand & Co. Delhi	
S. Sabha Delhi	
	१८९७ ई०
जन ज्ञान प्रकाशन, दिल्ली	१९७१ ई०
साहित्य सदन, लाहौर	
हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर	
आर्य साहित्य सदन, दिल्ली	२०१२ वि०
जन ज्ञान प्रकाशन, दिल्ली	१९७५ ई०
आर्यकुमार सभा किंग्सवे, दिल्ली	१९६१ ई०
आर्य जिला प्रचार मण्डल निजामाबाद	२०२६ वि०
वैदिक यंत्रालय अजमेर	१९५० वि०

आर्यसमाज विषयक विवेचनात्मक ग्रन्थ

	ग्रन्थ का नाम	लेखक
१	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम में आर्यसमाज का योगदान	पं० सत्यप्रिय शास्त्री
२	स्वराज्य संग्राम में आर्यसमाज का भाग	पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति
३	भारतीय स्वाधीनता संग्राम और आर्यसमाज	प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु
४	हिन्दी और आर्यसमाज	डा० सूर्यदेव शर्मा
५	हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन	श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'
६	आर्यसमाज और राजनीति	स्वामी वेदानन्द तीर्थ
७	आर्यसमाज और राजनीति	स्वामी रामेश्वरानन्द सरस्वती
८	आर्यसमाज और राजनीति	स० डा० महेश्वरप्रसाद वाग्मी
९	आर्यसमाज और राष्ट्र निर्माण	विश्वम्भर प्रसाद शर्मा
१०	आर्यसमाज का नव निर्माण	पं० राजेन्द्र
११	आर्यसमाज किस ओर ?	श्री जगदीशचन्द विद्यार्थी
१२	आर्यसमाज की नीति	पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय
१३	आर्यसमाज का उद्देश्य	पं० जगतकुमार शास्त्री
१४	आर्यसमाज के पुरोगम पर एकदृष्टि	लाला सांईदास (भू.पू. प्रिन्सिपल)
१५	विश्व को आर्यसमाज का संदेश	पं० भारतेन्द्रनाथ
१६	आर्यसमाज की उन्नति के साधन	श्री लालचन्द
१७	वेद और आर्यसमाज	लाला मुन्शीराम जिज्ञासु
१८	आर्यसमाज क्यों बुरा है ?	ब्र० ब्रह्मानन्द, चन्द्रगोपाल मिश्र
१९	आर्यसमाज के नाम पर भ्रष्टाचार	आत्मानन्द भारती
२०	आर्यसमाज और हिन्दू संगठन	श्री जगदीशसिंह गहलोत
२१	आर्यसमाज की स्थिति	लाला ज्ञानचन्द
२२	क्या आर्यसमाज की आवश्यकता नही ?	श्री ओमप्रकाश 'प्रकाश'

आर्यसमाज के इतिहास

१	आर्यसमाज का इतिहास भाग १	पं० नरदेव शास्त्री
२	,, ,, भाग २	,, ,,
३	,, ,, भाग १	पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति
४	,, ,, भाग २	,, ,,
५	,, ,,	पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार

प्रकाशक	प्रकाशन काल
आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर	
मधुर प्रकाशन, दिल्ली	१९७० ई०
गुरुकुल वरौण्डा	
वाग्मी प्रकाशन, दिल्ली	१९६५ ई०
नवयुग प्रकाशन-३ नागपुर	१९४२ ई०
वेद मन्दिर प्रकाशन अतरोली	
चन्द्रभानु स्मारक ग्रन्थमाला	१९५१ ई०
वेदप्रकाश माला-२४	
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब	
वेदप्रकाश माला-३७	
	१९१६ ई०
आर्यसमाज, दिल्ली	
हिन्दी प्रेस प्रयाग	१९७५ वि०
पी. सी द्वादशश्रेणी, अलीगढ़	१९७६ वि०
सार्वदैदिक सभा, दिल्ली	१९५७ ई०
सा० सभा, दिल्ली	१९५७ ई०

गुजराती ग्रन्थ

ग्रन्थ का नाम	लेखक
१ आर्यसमाज शुं० छे०	मू०ले० लाला रलाराम अनु० मोतीलाल त्रिभुवनदास दलाल
२ आर्यसमाज नी रचना	पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय
३ आर्यसमाज	स्नातक सत्यव्रत
४ आर्यसमाज शा माटे ?	रामचन्द्र कालीदास मास्तर
५ आर्यसमाज	ले० मदनमोहन विद्यासागर अनु० श्रीकान्त
६ आर्यसमाज नुँ साँचुँ स्वरूप	
७ आर्यसमाज : एक परिचय	
८ आर्यसमाज अने राष्ट्रीय महासभा	स्वामी परमानन्द अनु० हरिशंकर
९ आर्यसमाज नो परिचय	मू० ले० डा० कृष्णवल्लभ पालीवाल अनु० श्रीकान्त भगतजी
१० आर्यसमाज नी आवश्यकता	मू०ले० डा० सूर्यदेव शर्मा
११ वृहद् गुजरात मां आर्यसमाज	सम्पादक श्रीकान्त भगतजी
१२ आर्यसमाज अने शंकराचार्य	ले० मगनमोहनदास

—o—

प्रकाशक	प्रकाशन काल
आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई	१६६५वि. द्वि०सं.
आर्यसमाज काकड़वाड़ी बम्बई	१६८८ वि०
मुम्बई प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा	१६६० वि०
आ० स० काकरिया रोड, अहमदाबाद	
आर्य सेवा संघ, सूरत-२	२०२२ वि०
आर्यसमाज जामनगर	१६६४ ई०
आर्यसमाज बम्बई	१६८५ वि०
टंकारा ट्रस्ट	१६६७ ई०
आर्यसाज पोरबन्दर	
आर्य सेवा सघ सूरत	१६७० ई०
अहमदाबाद	१६०६ ई०

—०—